प्राकृत-काश्मीरम्

रचयिता
आशुकविरत्न पं० रघुनन्दन शर्मा
आयुर्वेदाचार्य
०
व्याख्याकार
छगनलाल शास्त्री
०

श्री तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में

॥ संस्कृत साहित्य ग्रन्थमाला ७ वां पुष्प ॥

•

प्रकाशक :

आदर्श साहित्य संघ

चूरू (राजस्थान)

•

मुद्रक :

रेफिल आर्ट प्रेस,

३१, बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता-७

•

प्रथम संस्करण

१०००

•

मूल्य

१ रुपया ३७ न० पै०

•

प्रस्तावना

सुतरां स्मरामि तान् मज्जीवनस्य मधुरेष्वन्यतमान् दिवसान्, यदाऽहं परमपुनीतस्याऽस्माकं भारतस्य आध्यात्मिक्याः संस्कृतेः पुण्यप्रतीकाना-मणुव्रतान्दोलनप्रवर्तकानामाचार्यवर्य्यश्रीतुलसीगणिनां सत्सङ्गाय पञ्चनद-प्रदेशस्य 'सिरसा' नगरेऽतिष्ठम्। पुनः स्मरामि आदर्शसाहित्यसंघस्य प्रमुखकार्यकर्त्रा श्रीछगनलालशास्त्रिणा सविश्लेषणं श्रावितान् शतसंख्या-मितान् तान् सरसान् दिव्यान् हृद्यांश्च श्लोकान्, येषां पेशलभावलहर्यः सम्प्रत्यपि समुच्छलन्ति यदा कदाचिन्मम मानसतले। श्लोकान् श्रावयता श्रीछगनलालशास्त्रिणा तदाऽहं परोक्षं परिचायितः तच्छ्लोकविरचयित्रा आशुकविरत्नेन, प्रत्यग्रप्रतिभाशालिना, विद्वद्धुर्य्येण, भिषग्वरेण्येन श्रीरघुनन्दनशर्म्मणा। समोदं मनस्यनुभूतं मया—अद्यतने कालेऽपि एतादृशा उर्वरप्रतिभावन्तो मेधाधनिनः कवीश्वरा विद्यन्तेऽस्माकं भारते—इति परमगौरवास्पदमस्माकं कृते। तेषां शतसंख्यामितानां श्लोकानां 'श्राकृतकाश्मीरम्' इति नाम्नि खण्डकाव्यरूपे संजायमानं प्रकाशनं दृष्ट्वा नास्ति ममाऽह्लादस्य कोऽपि सीमा।

कवयो न निष्पाद्यन्ते, अपितु ते जायन्ते—इति वयं निश्चितं पश्याम आशुकविरत्ने श्रीरघुनन्दनशर्म्मणि। न दृश्यते तस्य कवितासु कश्चन कृत आयासः, तासु सुरसरित ऊर्मय इव स्वतः स्वच्छन्दं कूर्दन्त्यो नृत्यन्त्यो धावन्त्यः प्रगच्छन्त्यश्च दरीदृश्यन्ते।

को न वेत्ति—काश्मीर एको परममहिमामयः प्रदेशः, यमाधारीकृत्य अनेकशः कवयितारः स्ववाचः सरसैः सुन्दरैर्विविधैर्भावैरलञ्चक्रुः। महाकविकल्हणकृतराजतरङ्गिणीप्रभृतयो भूरिशो ग्रन्था प्रदेशस्यास्य महिमानं सुतरां प्रकटयन्ति। आसीत् सोऽपि कोऽपि समयो यदा भारतवर्षस्य विद्वान्सः काश्मीरस्थवाग्देव्याश्चरणारविन्देषु समुपस्थाय स्वविद्वत्तायाः

प्रामाण्यं लभन्ते स्म। यथा प्रदेशोऽयमेकस्यां दिशि प्रकृतेः सुषमाया अप्रतिमं सौभाग्यमलभत, तथैव अन्यस्याञ्च दिशि साहित्यस्य संस्कृतेश्च गौरवमय्या निर्मलाया धारायाः प्रवाहसंस्पर्शाः सुतरामनुभूता एतदीयया पुण्यया वसुन्धरया।

यथाऽहं विज्ञापितः—कविरयं प्रत्यक्षद्रष्टा काश्मीरस्य। तत्रत्यानि हिमधवलानि गिरिशृङ्गाणि, स्वच्छा वेगवत्यः सरितः, काम्यकुसुमफलपूरिता वृक्षाः, पेशलतन्तुशालिन्यो वीरुधः, हमादिभिरुपसेविता ह्रदाः, विषमाः पन्थानः कुङ्कुमकलितानि सुरम्याणि क्षेत्राणि, सरला नरा नार्यश्च कविवर्येणाऽनेन सम्यग्दृष्टा ज्ञाता अवबुद्धाश्च। एतदेव कारणम्—यत् किञ्चित्तेन प्रकटीचक्रे, तत्र वयं प्रत्यक्षमिव सर्वं पश्यामः। काश्मीरव्यवहितोऽपि जनस्तत्र संस्थित इव सर्वमानन्दमनुभवति। कवेर्वर्णनशैली भृशं स्वाभाविकी, अतएव तत्क्षणमेव संस्पृशत्यन्तस्तलं पाठकस्य।

काव्येऽस्मिन् यशस्विनाऽनेन कविना प्राचीनत्वार्वाचीनत्वयोर्यः सुन्दरः समावेशः प्राकारि, स नितरां शोभाधायक इति मे मतिः यथैकस्मिन् स्थाने—

"राज्ञीव शुभ्रवसना क्वचित् तुषारै-
र्यूरोपयोषिदुपमा क्वचिदर्धनग्ना।
नग्ना कुहाप्युभयतो वनमातृपीव,
नैत्यल्पतामुपगता तटिनी नदीतः॥"

विविधासु अवस्थासु वर्तमाना नदीं वर्णयता कवयित्रा निःसंशयमत्र चमत्कृतिः प्रकटीकृता।

अलङ्काराणां बहुविधप्रयोगकरणे कवावस्मिन् नैसर्गिकी शक्तिर्विराजते इति एतत्काव्यप्रयुक्तालङ्काराणां निदर्शनेन सम्यक् प्रतिभाति। आलङ्कारिकीसु कल्पनासु कियन्तोऽभिनवाः प्रयोगा अपि सम्यक् कृता दृश्यन्ते। यथा—

"गहनगगनतुल्यं क्वेति काश्मीरदैर्घ्यं,
क्व मम लघुविहारः पक्षिपोतोपमस्य।
विरमति न तथापि प्राप्य वाच्यं विवक्षा,
त्यजति नहि वहन्वात्तूलमग्नेः कणोऽपि।"

कविरत्र स्वसहजविनयवृत्तिवशात् स्वाहंकारस्य निरसनं करोति परन्तु आत्मानं प्रति नास्ति हीनभावना तस्मिन्। स्वप्रतिभायां स्वारब्धकार्यस्य सफलतायाञ्च कविर्गाढं विश्वसिति। कियता नैपुण्येन प्रकटीकृतं तेन, यथा—अग्नेर्लघीयानेको कणोऽपि विशालतूलराशिं दृष्ट्वा स्तोकमपि न बिभेति, तत्र प्रविश्य तूलं भस्मसावि करोति, तथैव स्वप्रयासे स सुतरां साफल्यभाग् भविष्यतीति दृढो विश्वासोऽस्य कलाकारस्य।

कल्पनानां कियन्माधुर्यं विलसति कृतावस्य कवेरिति अधस्तात्समुद्धृताभ्यां श्लोकाभ्यां सम्यक् प्रकटीभवति—

"पङ्काकुलां कमलिनीं मलिनां द्विरेफो,
नोपेक्षते बहुविपद्यपि लोलुपोऽयम्।
तद्भैक्ष्यवृत्तिमधुना घृणितां विधाय,
हा! कण्टकं किरति वर्त्मनि सन्मुनीनाम्॥"

"एकाकिनी कमलिनी स्वपतौ वियुक्ते,
नो भाषते न हसति प्रणिमीलिताक्षी।
निन्दन्तु के न मनुजामपि तां नितान्तं,
या प्रोषिते निजजने रमते परेषु॥"

काव्यमिदं प्रसादगुणसंवलितम्। नास्ति क्लिष्टानां शब्दानां प्रयोगोऽत्र किन्तु पठनमात्रेण तद्गततात्पर्यमात्मसाद् भवेत्—इत्यर्थं कविनाऽतिसरला जनसमाजे प्रचलिताश्च शब्दाः प्रयुक्ताः।

अतिहर्षास्पदमेतत्—विविधवादविबाधिते अशान्तिसमाकुले, संघर्षजर्जरेऽस्मिन् काले एतादृशां सरसभावसमुल्लसितानां पुस्तकानामपि रचना संभूयमाना दरीदृश्यते। तेरापंथद्विशताब्दीसमारोहाभिनन्दने पुस्तकस्यास्य प्रकाशनं कुर्वन् 'आदर्श-साहित्य-संघः' भृशं सम्मानार्हः प्रतिष्ठार्हश्च।

मम स्नेहवता बन्धुना श्री छगनलालशास्त्रिणा काव्यस्यास्य मूलभाव-स्पर्शिनी, सूक्ष्मविश्लेषणगुम्फिता या व्याख्या प्राकारि, सा सुतरामस्य युवविदुषो विद्वत्तानुरूपा ।

आशासे हिन्दीभाषाभाषिणोऽपि अस्या व्याख्यायाः साहाय्येन काव्यादेतस्माद् ब्रह्मानन्दसहोदरमानन्दं लब्धुं शक्ष्यन्तीति

वेदश्री
४२ ए, जीवनकृष्ण मित्र रोड,
कलिकाता – ३७
आषाढ कृष्णा १४, २०१७

दुर्गामोहन भट्टाचार्य :
एम० ए०, सांख्यकाव्यपुराणतीर्थः
प्राध्यापक—शोध-विभागे
गवर्नमेन्ट संस्कृत कॉलेज
कलिकातायाम्

प्रस्तावना

अपने जीवन के मधुर दिवसों में अन्यतम वे दिवस मुझे अत्यन्त स्मरण हैं, जब मैं हमारे परम पवित्र देश भारत की आध्यात्मिक संस्कृति के पुण्य प्रतीक, अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी गणी के सत्संग के लिए पंजाब के सिरसा नगर में ठहरा था। मुझे फिर याद आते हैं, आदर्श साहित्य संघ के प्रमुख कार्यकर्ता श्री छगनलाल शास्त्री द्वारा विश्लेषण पूर्वक सुनाये गये वे सरस, दिव्य और सुन्दर सौ श्लोक, जिनकी कोमल भाव-लहरें अब भी यदा कदा मेरे मानस-तल में उछलने लगती हैं। श्री छगनलाल शास्त्री ने उन श्लोकों के रचयिता, आशुकविरत्न, उत्कृष्ट प्रतिभाशाली, भिषग्वर्य, भिषग्वरेण्य श्री रघुनन्दन शर्मा से मेरा परोक्ष परिचय कराया था। मैंने उल्लासपूर्वक मन में अनुभव किया—आज के समय में भी ऐसे उर्वर प्रतिभाशाली, मेधा के धनी कविश्रेष्ठ हमारे भारत में हैं—यह हमारे लिए अत्यन्त गौरव की बात है। उन (सब सुने गये) सौ श्लोकों का 'प्राकृत-काश्मीरम्' नामक खण्ड-काव्य के रूप में प्रकाशन होता देख मेरी प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं है।

कवि बनाये नहीं जाते, वे उत्पन्न होते हैं—यह हम निश्चित रूप से आशुकविरत्न श्री रघुनन्दन शर्मा में देखते हैं। उनकी कविताओं में कोई किया हुआ आयास नहीं दीखता परन्तु वे (कविताएं) गंगा की लहरों की तरह कूदती, नाचती, दौड़ती और आगे बढ़ती दिखाई देती हैं।

कौन नहीं जानता—काश्मीर एक अत्यन्त महत्त्वशाली प्रदेश है। जिसे आधार मान अनेक कवियों ने अपनी वाणी को विविध प्रकार के सरस और सुन्दर भावों से अलंकृत किया। महाकवि कल्हण द्वारा रचित राजतरंगिणी प्रभृति अनेक ग्रन्थ इस प्रदेश की महिमा का बखान करते हैं। वह भी एक समय था—जब भारतवर्ष के विद्वान् काश्मीर-स्थित श्री सरस्वती देवी के चरण कमलों में उपस्थित हो अपने पाण्डित्य की प्रामाणिकता पाते थे। जिस प्रकार एक ओर इस प्रदेश को प्राकृतिक सुषमा पाने का सौभाग्य मिला है, उसी प्रकार दूसरी ओर इसकी पुण्य वसुन्धरा ने साहित्य तथा संस्कृति की निर्मल धारा के प्रवाह-संस्पर्श का भी पर्याप्त अनुभव पाया है।

जैसा कि मुझे बताया गया था – प्रस्तुत काव्य के स्रष्टा कवि काश्मीर के प्रत्यक्ष-द्रष्टा है। बर्फ से श्वेत बने पहाड़ों की चोटियां, निर्मल वेगवती नदियां, फूलो और फलों से भरे पूरे वृक्ष, कोमल तन्तुओं वाली लताएं, हंसों द्वारा उपसेवित तालाब, ऊँचे-नीचे मार्ग, केसर से सुशोभित सुन्दर खेत, सीधे नर नारी—कविवर्य ने भली भाँति यह सब देखा, जाना, समझा। यही कारण है—जो कुछ उन्होंने प्रकट किया है, वहाँ हमें सब प्रत्यक्ष सा लगता है। काश्मीर से दूरस्थ व्यक्ति भी वहाँ स्थित की तरह सारे आनन्द का अनुभव कर सकता है। कवि की वर्णन-शैली अत्यन्त स्वाभाविक है, अतएव वह तत्क्षण पाठक के अन्तस्तल को छू लेती है।

इस काव्य में यशस्वी कवि ने प्राचीनता और अर्वाचीनता का जो सुन्दर समावेश किया है, वह अत्यन्त शोभाजनक है, ऐसा मैं मानता हूँ। जैसे एक स्थान पर—

"राज्ञीव शुभ्रवसना क्वचिन् तुषारै—
यूं रोपयोषिदुपमा क्वचिदर्धनग्ना।
नग्ना कुहाप्युभयतो वनमानुषीव,
नैवान्यतामुपगता नटिनी नटीतः॥"

अर्थात् नदी विविध वेष धारण कर रही है। वह नटिनी से कोई कम नहीं है। कहीं बर्फ से आच्छन्न होने के मिष वह रानी की तरह शुभ्र वस्त्रों से सज्जित दिखाई देती है। कहीं जहाँ बर्फ से आच्छन्न नहीं है, यूरोपीय नारी की तरह आधी नंगी और आधी पहनी-ओढ़ी-सी लगती है और कहीं जहाँ जरा भी बर्फ से ढकी नहीं है, वन-मानुषी की तरह नंगी दीखती है।

विविध दशाओं में स्थित नदी का वर्णन करते हुए कवि ने निःसन्देह एक चमत्कार उपस्थित किया है।

अलङ्कारों का अनेक प्रकार से प्रयोग करने की कवि में स्वाभाविक शक्ति है—यह इस काव्य में प्रयुक्त अलकारों को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है। आलंकारिक कल्पनाओं में भी कतिपय नये प्रयोग बड़े अच्छे रूप में किये गये दिखाई देते हैं। जैसे—

"गहनगगनतुल्यं वेत्ति काश्मीरदैर्घ्यं,
क्व मम लघुविहारः पक्षिपोतोपमस्य
विरमति न तथापि प्राप्य वाच्यं विवक्षा,
त्यजति नहि बहुत्वात्तूलमग्नेः कणोऽपि।"

अर्थात् कहाँ तो महन गगन के समान काश्मीर की विशालता और कहाँ एक छोटे से पखेरू के बच्चे जैसी मेरी उड़ान। फिर भी वर्णन योग्य पदार्थ को पाकर विवक्षा (वर्णन करने की उत्सुकता) रुकती नहीं। आग की छोटी सी चिनगारी रूई को विशाल ढेर के रूप में देख क्या छोड़ देती है ?

कवि यहाँ अपने सहज नम्र स्वभाववश अहंकार का निरसन करता है पर अपने प्रति हीन भावना उसमें नहीं है। अपनी प्रतिभा और अपने द्वारा शुरू किये गये कार्य की सफलता में कवि को गहरा विश्वास है। कितनी निपुणता से उसने व्यक्त किया है कि जिस प्रकार आग की छोटी सी चिनगारी रूई को विशाल ढेर के रूप में देख उससे डर नहीं जाती, उसे साफ कर देती है, उसी तरह अपने मन में उसे दृढ़ निश्चय है, अपने प्रयास में वह सफल होगा।

कवि की इस रचना में कल्पनाओं का कितना माधुर्य है, उदाहरण के रूप में नीचे उद्धृत दो श्लोकों से अच्छी तरह व्यक्त होता है—

"पङ्काकुलां कमलिनीं मलिनां द्विरेफो,
नोपेक्षते बहुविपद्यपि लोलुपोऽयम्।
तद्भैक्ष्यवृत्तिमधुना घृणितां विधाय,
हा ! कण्टकं किरति वर्त्मनि सन्मुनीनाम् ॥"

अर्थात्—कमलिनी कीचड़ में आकुल पड़ी है। वह उदास है। भयानक विपत्तियों से घिरी है। फिर भी रस का लोभी भौंरा उसकी उपेक्षा नहीं करता। बार-बार जाता है, रस मांगता है। ऐसा कर भौंरा भिक्षा-वृत्ति को लोगों की दृष्टि में घृणित बना रहा है और साथ ही साथ अफ़सोस की बात यह है कि ऐसा कर वह उन सन्मुनियों के मार्ग में भी काँटे बिखेर रहा है, जिनके जीवन-निर्वाह का भिक्षा ही एक मात्र साधन है।

"एकाकिनी कमलिनी स्वपतौ वियुक्ते,
नो भाषते न हसति प्रणिमीलिताक्षी।
निन्दन्तु के न मनुजामपि तां नितान्तं,
या प्रोषिते निजजने रमते परेषु ॥

अर्थात्—कमलिनी अपने पति से विरहित है। वह अकेली है। क्योंकि वह पतिव्रता है, इसलिए न किसी से वह बोलती है और न हँसती है। आँखें मूँदे चुपचाप पड़ी है। मानवेतर जगत् में भी सतीत्व के प्रति कितनी निष्ठा है, इससे यह स्पष्ट है। पर

वह मानवी जो पति के विदेश चले जाने पर पर-पुरुष के साथ रमण करती है, किसके द्वारा निन्दनीय नहीं?

यह काव्य प्रसाद गुण से युक्त है। इसमें क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग न कर कवि ने जन-समाज में प्रचलित उन सरल शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका पढ़ने मात्र से तात्पर्य आत्मसात् हो सके।

यह परम हर्ष की बात है कि अनेक प्रकार के वादों से बाधित, अशान्ति से आकुल, संघर्षों से जर्जर आज के समय में भी इस प्रकार की सरस-भाव-समुल्लसित पुस्तकों की रचना होती दिखाई दे रही है। तेरापन्थ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में इस पुस्तक का प्रकाशन आदर्श साहित्य संघ कर रहा है, इसके लिए वह अत्यन्त सम्मान एवं प्रतिष्ठा का पात्र है।

मेरे स्नेही बन्धु श्री छगनलाल शास्त्री ने इस काव्य की राष्ट्रभाषा हिन्दी में मूल भावों का संस्पर्श करनेवाली, सूक्ष्म विश्लेषण युक्त जो व्याख्या की है, वह इस युवक विद्वान् की विद्वत्ता के सर्वथा अनुरूप है। मुझे आशा है, हिन्दी भाषा भाषी लोग भी इस व्याख्या की सहायता द्वारा इस काव्य से अर्थ की अनुभूति से मिलनेवाले आनन्द जैसा काव्य-रसानन्द पा सकेंगे।

प्रतिपत्तये....

काश्मीर भारत की स्वर्ग-स्थली है। मानो प्रकृति ने अपना अगाध सौन्दर्य यहाँ के कण-कण में उंडेल रखा है। कवित्व को सहजतया उद्‌बुद्ध एवं उत्प्रेरित करने की अद्‌भुत क्षमता वहाँ के गगनस्पर्शी गिर-शृङ्गों, कलकल निनाद करती सरिताओं, विशाल झीलों, कोमल लताओं, सुरभित फूलों में है। यही कारण हैं, भारतीय वाङ्‌मय में काश्मीर को लेकर रची अनेक उत्तमोत्तम कृतियां उपलब्ध हैं।

प्रस्तुत खण्ड-काव्य काश्मीर का प्राकृतिक चित्रण लिये आशुकविरत्न, बहुश्रुत विद्वान्, आयुर्वेदाचार्य पं० रघुनन्दनजी शर्मा की अभिनव कृति है। पं० रघुनन्दन जी संस्कृत के दिग्गज विद्वान् हैं। वे उद्‌भट आशुकवि हैं। वाग्देवी का वरद हस्त सदा से उनके मस्तक पर रहा है। किसी भी विषय पर संस्कृत में धाराप्रवाह रूप में कविता करते जाना उन्हें सहज सिद्ध है। पर प्रचार-प्रसार एवं लोकमञ्च से सदा दूर रहने वाले वे एक मौन साहित्य-साधक हैं। गुनगुनाते हैं पर भीतर ही भीतर, प्लैटफार्म पर नहीं आते। एक बार वे काश्मीर गये थे। उनका कवि-हृदय गुनगुनाये बिना कैसे रहता ? उनकी वही गुनगुनाहट इस खण्ड-काव्य के रूप में प्रस्तुत है।

काव्य में जहाँ एक ओर शब्दों का अपार सौन्दर्य भरा है, दूसरी ओर वहां भावनाओं का छलछलाता स्रोत अजस्र गति से बहता गया है।

आदर्श साहित्य संघ के उत्साही व विद्वान् कार्यकर्त्ता श्री छगनलाल शास्त्री ने काव्य का सम्यक् अनुशीलन कर हिन्दी में इसकी व्याख्या की है, जिससे हिन्दी जाननेवाले पाठक भी इसका रसास्वादन कर सकें।

तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में इस संस्कृत खण्ड-काव्य 'प्राकृत-काश्मीरम्' को आदर्श साहित्य संघ की ओर से प्रकाशित करते हमें हार्दिक प्रसन्नता है।

पाठक काव्यगत अन्तःस्पर्शी कोमल भावनाओं द्वारा जीवन में मार्दव और माधुर्य संजोने का अवसर पायेंगे, ऐसी आशा है।

सरदारशहर (राजस्थान)
आषाढ़ कृष्णा १३, २०१७.

जयचन्दलाल दफ्तरी
व्यवस्थापक
आदर्श साहित्य संघ

वह मानवी जो पति के विदेश चले जाने पर पर-पुरुष के साथ रमण करती है, किसके द्वारा निन्दनीय नहीं ?

यह काव्य प्रसाद गुण से युक्त है। इसमें क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग न कर कवि ने जन-समाज में प्रचलित उन सरल शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका पढ़ने मात्र से तात्पर्य आत्मसात् हो सके।

यह परम हर्ष की बात है कि अनेक प्रकार के वादों से बाधित, अशान्ति से आकुल, संघर्षों से जर्जर आज के समय में भी इस प्रकार की सरस-भाव समुल्लसित पुस्तकों की रचना होती दिखाई दे रही है। तेरापन्थ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में इस पुस्तक का प्रकाशन आदर्श साहित्य संघ कर रहा है, इसके लिए वह अत्यन्त सम्मान एवं प्रतिष्ठा का पात्र है।

मेरे स्नेही बन्धु श्री छगनलाल शास्त्री ने इस काव्य की राष्ट्रभाषा हिन्दी में मूल भावों का संस्पर्श करनेवाली, सूक्ष्म विश्लेषण युक्त जो व्याख्या की है, वह इस युवक विद्वान् की विद्वत्ता के सर्वथा अनुरूप है। मुझे आशा है, हिन्दी भाषा भाषी लोग भी इस व्याख्या की सहायता द्वारा इस काव्य से ब्रह्म की अनुभूति से मिलनेवाले आनन्द जैसा काव्य-रसानन्द पा सकेंगे।

दुर्गामोहन भट्टाचार्य एम० ए०
काव्य-सांख्य-पुराण-तीर्थ
प्राध्यापक—शोध विभाग
गवर्नमेन्ट संस्कृत कलिज,
कलकत्ता

वेदश्री
४२ ए जीवन कृष्ण मित्र रोड,
कलकत्ता-७

प्रतिपत्तये....

काश्मीर भारत की स्वर्ग-स्थली है। मानो प्रकृति ने अपना अगाध सौन्दर्य यहाँ के कण-कण में उंडेल रखा है। कवित्व को सहजतया उद्बुद्ध एवं उत्प्रेरित करने की अद्भुत क्षमता वहाँ के गगनस्पर्शी गिर-शृङ्गों, कलकल निनाद करती सरिताओं, विशाल झीलों, कोमल लताओं, सुरभित फूलों में है। यही कारण हैं, भारतीय वाङ्‌मय में काश्मीर को लेकर रची अनेक उत्तमोत्तम कृतियां उपलब्ध हैं।

प्रस्तुत खण्ड-काव्य काश्मीर का प्राकृतिक चित्रण लिये आशुकविरत्न, बहुश्रुत विद्वान्, आयुर्वेदाचार्य पं० रघुनन्दनजी शर्मा की अभिनव कृति है। पं० रघुनन्दन जी संस्कृत के दिग्गज विद्वान् हैं। वे उद्भट आशुकवि हैं। वाग्देवी का वरद हस्त सदा से उनके मस्तक पर रहा है। किसी भी विषय पर संस्कृत में धाराप्रवाह रूप में कविता करते जाना उन्हें सहज सिद्ध है। पर प्रचार-प्रसार एवं लोकमञ्च से सदा दूर रहने वाले वे एक मौन साहित्य-साधक हैं। गुनगुनाते हैं पर भीतर ही भीतर, प्लैटफार्म पर नहीं आते। एक बार वे काश्मीर गये थे। उनका कवि-हृदय गुनगुनाये बिना कैसे रहता ? उनकी वही गुनगुनाहट इस खण्ड-काव्य के रूप में प्रस्तुत है।

काव्य में जहाँ एक ओर शब्दों का अपार सौन्दर्य भरा है, दूसरी ओर वहां भावनाओं का छलछलाता स्रोत अजस्र गति से बहता गया है।

आदर्श साहित्य संघ के उत्साही व विद्वान् कार्यकर्त्ता श्री छगनलाल शास्त्री ने काव्य का सम्यक् अनुशीलन कर हिन्दी में इसकी व्याख्या की है, जिससे हिन्दी जाननेवाले पाठक भी इसका रसास्वादन कर सकें।

तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में इस संस्कृत खण्ड-काव्य 'प्राकृत-काश्मीरम्' को आदर्श साहित्य संघ की ओर से प्रकाशित करते हमें हार्दिक प्रसन्नता है।

पाठक काव्यगत अन्तःस्पर्शी कोमल भावनाओं द्वारा जीवन में मार्दव और माधुर्य संजोने का अवसर पायेंगे, ऐसी आशा है।

सरदारशहर (राजस्थान)
आषाढ़ कृष्णा १३, २०१७.

जयचन्दलाल दफ्तरी
व्यवस्थापक
आदर्श साहित्य संघ

[१]

प्रकृतिविकृतिरिक्तो वीतरागो दयालु-
रमृतममरनाथः पाययेन्मां यतोऽहम् ।
सुखमयशिवपुर्य्यां तत्र कुर्यां निवासं,
भृकुटिकुटिलकालो न स्पृशेद्यत्र हस्तम् ॥

सन्दर्भ—

काव्य की निर्विघ्न परिसमाप्ति को लक्षित कर कवि काश्मीर के अधिष्ठातृ-देवता अमरनाथ को नमस्कार करता है—

व्याख्या—

जिसको जन्म-मरण की बाधा नहीं सताती, जिसके राग, द्वेष आदि आत्म-वंचक शत्रु मिट चुके हैं, वह दयालु प्रभु अमरनाथ मुझे अमृत का पान कराये—मुझे अमृतत्व दे, जिससे मैं शाश्वतसुखमयी शिवपुरी[1] में—कल्याणमयी नगरी में—मुक्ति में निवास करूँ, जहाँ वह मृत्यु जिसकी भौंहों से क्रूरता और कुटिलता टपकती है, मेरे हाथ भी न लगा सके।

निष्कर्ष—

प्रस्तुत पद्य में निहित कवि की हृद्गत भावना से स्पष्ट है कि उसका उपास्य और नमस्कार्य वह चिन्मय परमात्मा है, जो कर्म-बन्ध से मुक्त है और राग, द्वेष आदि आत्म-शत्रु जिससे पराभव पा चुके हैं। कवि की यह आकांक्षा है कि उसे भी उस सत्-चित् आनन्दात्मक परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति हो, जिससे संसार के समस्त बन्धनों से छूट कर वह अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो सके।

---

१ एक अर्थ शिव के निवास-स्थान कैलाश अथवा काशी की ओर भी संकेत करता है।

[२]

वन्देऽहं हंससिते,
विकसितवल्लीकुले समासीनाम् ।
वीणारतवाणीमिव
नदन्मिलिन्दां कुसुमलक्ष्मीम् ॥

सन्दर्भ—

काश्मीर प्रकृति की पावन गोद में अवस्थित एक अत्यन्त कमनीय और भव्य प्रदेश है। प्रकृति की ही अमर देन का यह फल है कि काश्मीर सौन्दर्य और सुषमा में संसार में अनूठा है। रूप, रंग और सुगन्ध में निराले एवं अलबेले फूल इसकी शोभा को सदा बढ़ाते रहते हैं।

काश्मीर में फूलों की प्रचुरता है। खिली हुई उजली बेलें मनोहर फूलों से ढकी रहती हैं। भौंरे उन फूलों का रस पीते और मधुर गुंजन करते रहते हैं।

कवि इस दृश्य को दृष्टि में रख प्रकृति के कुसुमात्मक रूप की कल्पना करता है, सरस्वती के रूप में चित्रित कर उसे नमस्कार करता है।

व्याख्या—

हंस के समान सफेद, विकसित बेलों के आसन पर स्थित, भौंरों के गुंजन से मुखरित कुसुमश्री को मैं प्रणाम करता हूँ, जो हंस पर विराजित, वीणा बजाने में लीन सरस्वती-सी लगती है।

निष्कर्ष—

कवि ने कुसुमश्री को सरस्वती से उपमित किया है। इधर सरस्वती का वाहन हंस है तो उधर कुसुमश्री श्वेत लताओं के आसन पर स्थित है, सरस्वती वीणा बजा रही है तो भौंरों की गुनगुनाहट उधर वाद्य-वादन का-सा अभिनय करती है।

[३]

गहनगगनतुल्यं वक्ति काश्मीरदैर्घ्यं,
क्व मम लघुविहारः पक्षिपोतोपमस्य ।

विरमति न तथापि प्राप्य वाच्यं विवक्षा,
त्यजति नहि बहुत्वात्तूलमग्नेः कणोऽपि ॥

सन्दर्भ—

कवि काश्मीर जैसे रमणीय प्रदेश की सुषमा का काव्यात्मक चित्र प्रस्तुत करने को उद्यत है। इतना बड़ा कार्य उसने अपने हाथों में लिया है। पर उसे इसका जरा भी अभिमान नहीं है। वह अपनी नम्र और सरल भावना व्यक्त करता हुआ कहता है—

व्याख्या—

कहाँ तो गहन गगन के समान काश्मीर की विशालता और कहाँ एक छोटे-से पखेरू के बच्चे जैसी मेरी उड़ान। फिर भी वर्णन-योग्य पदार्थ को पाकर विवक्षा (वर्णन करने की उत्सुकता) रुकती नहीं। आग की छोटी-सी चिनगारी रुई को विशाल ढेर के रूप में देख क्या छोड़ देती है ?

निष्कर्ष—

कवि अपने सहज नम्र स्वभाव-वश अहंकार का निरसन करता है पर अपने प्रति हीन भावना उसमें नहीं है। अपनी प्रतिभा और अपने द्वारा शुरू किये गए कार्य की सफलता के प्रति कवि को पूरा आत्म-विश्वास है। कितनी निपुणता से उसने व्यक्त किया है कि जिस प्रकार आग की छोटी-सी चिनगारी रुई को विशाल ढेर के रूप में देख उससे डर नहीं जाती, उसे साफ कर देती है, उसी तरह अपने प्रयास में वह सफल होगा।

[४]

लिप्सुर्मधुररसालं,
किं नाद्रियते बुधोऽम्लनिम्बूकम्।
तद् दिव्यकाव्यकुशल-
स्तुच्छेऽप्युक्ते दृशं दद्यात् ॥

सन्दर्भ—

कवि अपने प्रयास की सफलता में विश्वास रखता हुआ भी कवित्व के गर्व से उद्धत बनना नहीं चाहता। वह पुनः अपनी विनम्र भावना प्रगट करता है—

व्याख्या—

मेरा काव्य कोई मधुर काव्य नहीं है, वह तो नीबू के समान खट्टा है। पर मधुर आम का रस लेने वाले विज्ञ क्या कभी नीबू का आदर नहीं करते? मुझे आशा है, उत्तम काव्यों के रसिक और मर्मज्ञ मेरी तुच्छ उक्तियों पर दृष्टि तो डालेंगे ही।

निष्कर्ष—

कवि ने अपने काव्य की लघुता बताने के लिए उसे नीबू से उपमित किया है पर साथ-साथ में नीबू की उपमा से काव्य की उपादेयता भी व्यक्त हो जाती है।

नीबू खट्टा है पर उसमें दीपन एवं पाचन का विशेष गुण है। आम शक्तिवर्धक है पर वह दुर्जर है। हर किसी में उसे पचाने की शक्ति नहीं होती। नीबू को हर कोई सरलता से पचा सकता है। अपनी पाचकता के कारण वह आमाशय में गए पदार्थों का रस बनने में सहकारी होता है अतएव वह सर्व-साधारण के लिए हितप्रद एवं उपयोगी है, जब आम केवल कुछ एक के लिए है।

नीबू की उपमा देने में कवि का आशय यह रहा है कि यह काव्य सर्व-साधारण के लिए उपादेय एवं उसकी रस-भावात्मक अन्तर-वृत्ति को तुष्टि देते हुए आत्म-गुणों की वृद्धि करने वाला है।

[५]

उरसि रसिकपुंसां पद्यपुष्पस्रगेषा,
भवति सुरभिसिद्ध्यै श्रद्धया धार्यमाणा।
कपिसदृगकृपाणां नीरसानां नराणां,
विदलनविषयैव स्यात् करेषु प्रविष्टा॥

सन्दर्भ—

रस एवं कला के पारखी ही काव्य की उपयोगिता जानते हैं। सही माने में वे ही उसके सच्चे अधिकारी हैं। उन्हें ही उससे आह्लाद मिलता है। जो कला के महत्त्व को नहीं समझते, वे भला उसकी क्या उपादेयता जानें, कहीं दुरुपयोग न करें तो भी अच्छा। इसी भावना को व्यक्त करता हुआ कवि कहता है—

व्याख्या—

यह (मेरा काव्य) पद्यों के फूलों की एक माला है। जो रसिक जन इसे अभिरुचि और प्रेम से अपने गले में पहनेंगे, उन्हें यह मधुर सुगन्ध देगी—उन्हें आत्म-आह्लाद मिलेगा। पर नीरस, निष्ठुर व्यक्तियों के हाथों में यह न जाय, अन्यथा बन्दरों की तरह तोड़-फोड़ के अतिरिक्त और वे करेंगे ही क्या ?

[६]

प्रकृतेर्न फलस्येव,
बाह्यं रूपं प्रकामये।
अन्तर्हितं हितं स्वादु,
स्वय्वर्जं रसमाददे ॥

सन्दर्भ—

कवि अपने वर्ण्य विषय का उपोद्घात करता हुआ कहता है—

व्याख्या—

जैसे फल के बाह्य रूप—छिलके को कोई नहीं चाहता, उसी तरह मैं भी प्रकृति के बाह्य रूप की विवेचना में नहीं जाऊँगा। छिलके को छोड़ फल के भीतर का स्वादिष्ट और हितकर रस सबके लिए काम्य है, वैसे ही मैं प्रकृति के आन्तरिक रूप को ग्रहण करूँगा—उसके अन्तरतम में पैठ निगूढ़ एवं रहस्यमय भावों की अभिव्यञ्जना करूँगा।

[७]

नारायणनाराचा—
दधाप्यूर्मिच्छलैर्जलधिकम्पः।
स्थैर्यं स्तौमि हिमाद्रे—
र्दीर्णस्याऽपीन्द्रवज्रेण ॥

सन्दर्भ—

काश्मीर हिमालय के मस्तक पर बसा है। उत्कृष्ट वस्तु का आधार अथवा भूमिका भी उत्कृष्ट ही होती है—यह स्वभावसिद्ध है। कवि हिमालय की असाधारण उत्कृष्टता, स्थिरता और बलवत्ता पर प्रकाश डालता हुआ कहता है—

व्याख्या—

संसार में कहा जाता है—समुद्र विशाल है, असीम बल-वैभव-शाली है। पर वास्तव में ऐसा कहाँ! त्रेता में राम ने समुद्र पर बाण छोड़ा, उसका प्रभाव अबतक भी मिट नहीं पाया। लहरों के बहाने आज भी समुद्र आतंक से काँप रहा है। दूसरी ओर काश्मीर की आधार-भूमि—हिमालय की दृढ़ता और धीरता तो देखिए, जो इन्द्र[1] के वज्र से क्षत-विक्षत और विद्ध होने पर भी अडोल खड़ा है।

[८]

रत्नोपमैः किसलयैरभिभूषिताभि-
राश्लिष्य शैलमगुणं भुजवल्लताभिः।
वृक्षावली गुणवती सुवती फलानि,
स्पष्टीयति प्रकृतिपूरुषसांख्यसृष्टिम् ॥

सन्दर्भ—

काश्मीर में पर्वत फलों से भरे-पूरे वृक्षों से ढके रहते हैं। बेलें चारों ओर से उन्हें घेरे रहती हैं। इस सुहावने दृश्य का कवि साहित्यिक सरसता और दार्शनिक गूढ़ता के साथ बड़ा मार्मिक वर्णन करता है। शृंगार और दर्शन का अनूठा मेल कवि ने प्रस्तुत पद्य में किया है—

व्याख्या—

वृक्षावली एक सुन्दर नारी का रूपक है। लताएँ उसकी भुजा हैं। लताओं के कोमल किसलय मानो उनके रत्नजटित आभूषण हैं, जिनसे यह सुन्दरी बड़ी शोभा पा रही है। पर्वत उसका प्रियतम है। यह गुणवती (प्रसव-गुणवाली) अपनी भुजाओं से अपने निर्गुण प्रियतम को आश्लिष्ट करती हुई फलों की सृष्टि कर रही है। और साथ-ही साथ सांख्य-दर्शन-सम्मत प्रकृति-पुरुष के संयोग से होने वाले सृष्टि-क्रम को भी स्पष्ट जता रही है।

सांख्य-दर्शन में प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि का होना माना है। प्रकृति

---

1 पौराणिक कथा के अनुसार पर्वतों के पहले पंख थे। इन्द्र ने क्रुद्ध होकर वज्र से सब के पंख काट डाले।

सत्त्व, रज और तम— इन तीन गुणों से युक्त है और पुरुष निर्गुण। कवि ने प्रकृति को वृक्षावली में और पुरुष को पर्वत में आरोपित किया है। वृक्षावली फल-प्रसव की अपेक्षा से सगुण है और पर्वत प्रसव गुण रहित होने की अपेक्षा निर्गुण।

निष्कर्ष—

यहाँ दार्शनिक अभिव्यंजना से प्रगट है कि यह (काश्मीर) ज्ञान-विज्ञान और तत्त्व चिन्तन का देश है। यहाँ स्थावर-जगत् भी दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाता दिखाई देता है।

[९]

आलिङ्गनेऽति निरता पतिपादपं स्वं,
ही पुष्पवत्यपि लता न वियोक्तुमर्हा।
अन्यो रहस्यमिति मे न कदापि पश्ये-
देवं स्तृणात्यपि तरुं ततपत्रहस्तैः॥

सन्दर्भ—

लता फूलों से परिपूर्ण है। उसने वृक्ष को इस तरह छा रखा है कि कोई उसे देख नहीं पाता—

व्याख्या—

पुष्पवती लतारूप प्रेयसी ने अपने वृक्षरूप प्रियतम को गाढ़-आश्लेष में जकड़ रखा है, वह क्षण भर के लिए भी उसे छोड़ती नहीं। इस लज्जा से कि मैं पुष्पवती (फूलों से युक्त तथा दूसरी ओर रजस्वला) होती हुई भी ऐसा कर्म कर रही हूँ, कहीं कोई इस गोपनीय कार्य को देख न ले, उसने वृक्ष को अपने विस्तृत पत्ररूप हाथों से ढक रखा है।

निष्कर्ष—

नीच कर्म करने वाला सदा भयभीत रहता है, छिपता रहता है। प्रगट में आने का उसे साहस नहीं होता। वह आत्म-बल खो बैठता है।

[१०]

हासः सदा सितसुमैः क्रियते व्रतत्या,
लोलान् विलोक्य मकरन्दलवे मिलिन्दान्।

तानद्य विस्मृतवती दिवसानसौ स्वान्,
येस्त्वाश्रयाय पतिता पदयोस्तरूणाम् ॥

सन्दर्भ—

लता अपने सफेद फूलों से ढकी है। भौंरे उस पर मंडरा रहे हैं—

व्याख्या—

आज लता मदमाती है। वह फूलों के वैभव से परिपूर्ण है। उस पर भौंरे मडरा रहे हैं। वे मकरन्द पाने को उतावले हैं। उन्हे आश्रय देना तो दूर, लता उल्टी उन पर हँस रही है। मालूम होता है, यह उन दिनों को भूल गई जब आश्रय पाने के लिए स्वयं वृक्षों के चरणों में यह लुठती रही थी। तभी तो यह शरणागत का तिरस्कार कर रही है।

निष्कर्ष—

वैभव पाकर अभिमान करना, दूसरों का उपहास करना कभी उचित नहीं।

[११]

एकाकिनी कमलिनी स्वपतौ वियुक्ते,
नो भाषते न हसति प्रणिमीलिताक्षी।
निन्दन्तु के न मनुजामपि तां नितान्तं,
या प्रोषिते निजजने रमते परेषु ॥

सन्दर्भ—

सन्ध्या की शान्त वेला। सूरज छिप चुका है। कमलिनी संकुचित हो गई है। कवि कमलिनी की विरह-कातर नायिका से तुलना करता है—

व्याख्या—

कमलिनी अपने पति से विरहित है। वह अकेली है। क्योंकि वह पतिव्रता है, इसलिए न किसी से वह बोलती है और न हँसती ही है। आँखें मून्दे चुपचाप पड़ी है। मानवेतर जगत् में भी सतीत्व के प्रति कितनी निष्ठा है—इससे यह स्पष्ट है। पर वह मानवी जो पति के विदेश चले जाने पर पर-पुरुष के साथ रमण करती है, किसके द्वारा निन्दनीय नहीं? मानव होकर भी इतनी नीचता में पड़ना वास्तव में सर्वत्र निन्दनीय है।

यह प्राकृतिक नियम है—कमलिनी रात में खिलती नहीं, बन्द पड़ी रहती है इसलिए भौंरे भी उस पर न मंडराते हैं और न गुँजन ही करते हैं। इसे लक्षित कर कवि ने इस श्लोक में कमलिनी में न हँसने और न बोलने का आरोप किया है। अपनी उर्वर कल्पना द्वारा उन्होंने अपने द्वारा प्रस्तुत पातिव्रत्य की महत्ता के साथ इसे बड़े सरस एवं सुन्दर रूप में तुलित किया है।

निष्कर्ष—

जड़ जगत् में पातिव्रत्य जैसी सत्य-निष्ठा को देख मानव को जीवन में शिक्षा लेनी चाहिए।

[१२]

अन्तःपुरे बहुवधूकुलकेलिपूर्णे,
विज्ञाय लीनमनिशं नरनाथवर्गम्।
सत्तां निजामपि बहुव्रततीपतित्वा-
दन्तर्दधाति पतिरेप वनस्पतीनाम् ॥

सन्दर्भ—

एक बहुत बड़ा वृक्ष है। बहुत-सी बेलों से वह इस प्रकार ढका पड़ा है कि 'वह है'—ऐसा भी तत्क्षण भान नहीं होता।

व्याख्या—

वृक्ष ने देखा—भारत के राजा अपने अन्तःपुर में अपनी बहुत-सी रानियों के बीच रात-दिन छिपे पड़े रहते हैं। मेरे भी तो बेलों के रूप में बहुत-सी पत्नियाँ हैं, वृक्षराज भी तो हूँ, क्यों न मैं राजाओं का अनुकरण करूँ। मानो यही सोचकर वह वृक्षराज अपने को बेलों के बीच छुपा रहा है।

निष्कर्ष—

लोक में जिन्हें बड़ा माना जाता है, चाहे वे भले कार्य करें या बुरे, जन-साधारण उनका अनुकरण करते हैं। वातावरण को बनाने, बिगाड़ने का बहुत कुछ उत्तरदायित्व उन (बड़े कहे जाने वालों) पर होता है। वे ऐसे कार्य करें, जिनसे जनता के समक्ष एक आदर्श उपस्थित हो, जनता सन्मार्ग पर आये। इस निष्कर्ष के साथ-साथ कवि ने राजाओं की विलासितापूर्ण वृत्ति पर भी एक तीखा व्यंग्य कसा है।

[१३]

पादेषु पादपपतेः पतिताऽऽश्रयार्थ-
माक्रान्तवत्युत शिरोऽपि लता कृतघ्ना ।
श्रुत्वाकटूक्तिमिति गौरवणिग्वदेषा,
रक्तप्रसूनमिषतः कुरुतेऽक्षिरागम् ॥

सन्दर्भ—

एक बेल वृक्ष की जड़ में उगी है। यह बढ़ते-बढ़ते इतनी बढ़ी कि वृक्ष की चोटी को भी लांघ गई। लाल रंग के फूल उसकी शोभा बढ़ा रहें हैं। यह एक दृश्य है, जो काश्मीर की बर्फीली घाटियों में अक्सर मिलता है।

व्याख्या—

एक दिन था—यह बेल शरण लेने के लिए इस वृक्ष के चरणों में आई। शरण मिली। वह बढ़ती गई—बढ़ती गई। आखिर वृक्ष के शिर पर चढ़ बैठी। ऐसा देख किसी ने कहा—यह बेल कितनी कृतघ्न है, शरण देने वाले के साथ भी इसने ऐसा व्यवहार किया। बेल को यह कड़ुआ लगा। इसलिए यह लाल फूलों के मिष क्रोध से अपनी आँख उस पर लाल कर रही है, जैसा कि अंग्रेज व्यापारियों ने भारतीयों के प्रति किया। व्यापारी के रूप में वे आये। भारत ने उन्हें शरण दी। वे आगे बढ़ते गए, बढ़ते गए। यहाँ तक कि भारतीयों का ही शिर कुचलने लगे। जब उनसे इस कृतघ्नता के लिए कहा जाता तो क्रोध से आँखें लाल कर आतंक दिखाना चाहते।

निष्कर्ष—

उपकारी के प्रति कभी भी कृतघ्न नहीं होना चाहिए।

[१४]

पङ्काऽऽकुलां कमलिनीं मलिनां द्विरेफो,
नोपेक्षते बहुविपद्यपि लोलुपोऽयम् ।
तद् भैक्ष्यवृत्तिमधुना घृणितां विधाप्य,
हा ! कण्टकं किरति वर्त्मनि सन्मुनीनाम् ॥

सन्दर्भ—

कमलिनी कीचड़ में फँसी है। इससे वह मलिन है। मकरन्द लेने को लोलुप भौंरा बार-बार उस पर मंडराता है, आता-जाता है।

व्याख्या—

कमलिनी कीचड़ में आकुल पड़ी है। वह उदास है। भयानक विपत्तियों से घिरी है। फिर भी रस का लोभी भौंरा उसकी उपेक्षा नहीं करता। बार-बार जाता है, रस मांगता है। ऐसा कर भौंरा भिक्षावृत्ति को लोगों की दृष्टि में घृणित बना रहा है और साथ-ही-साथ अफसोस की बात यह है कि ऐसा कर वह उन सन्मुनियों के मार्ग में भी काँटे बिखेर रहा है, जिनके जीवन-निर्वाह का भिक्षा ही एकमात्र साधन है।

भौंरे के इस बर्ताव से लोगों पर यह दुष्प्रभाव पड़ेगा कि ये याचक हृदय-हीन होते हैं। देने वाला दुःख में है या सुख में, देने की स्थिति में है या नहीं—इतना भी ये नहीं सोचते। यह दुष्प्रभाव भिक्षुकमात्र के प्रति उनमें उदासीनता पैदा करेगा और सच्चे साधुओं के मार्ग में भी बाधाएँ आयेंगी—उनको भी भिक्षा मिलने में असुविधा होगी, जो भिक्षा के सच्चे पात्र हैं।

निष्कर्ष

लोलुपता नीच वृत्ति है। लोलुप व्यक्ति स्वयं तो अपना मान खोता ही है, दूसरे निःस्पृह लोगों के लिए भी वह दुविधा का हेतु बनता है।

[१५]

यं पायितो मधुरसो दिवसेऽप्यशेषे,
सायं स एव पतिशून्यगृहे प्रविष्टः।
बद्धस्ततो यदि पतिव्रतया नलिन्या,
रोदित्ययं कथमलिर्मिषतो रवस्य॥

सन्दर्भ—

सूर्य छिप चुका। दिन भर कमलिनी का रस पीने वाला लोलुप भौंरा लोभ के वश कमलिनी-कोश के अन्दर ही बन्द हो गया। वह भीतर-ही-भीतर गुनगुना रहा है।

व्याख्या—

जिस भौंरे को कमलिनी ने दिन भर मधुर रस पिलाया। वही भौंरा शाम को ज्योंही पति (सूर्य) आँखों से ओझल हुए, सूने घर में घुस गया। तब यदि पतिव्रता कमलिनी ने उसे बाँधकर बन्दी बना लिया तो अब वह गुनगुनाहट के मिष रो क्यों रहा है ? उस जैसे पापी और कृतघ्न को अपने किये का चुपचाप फल भुगतना चाहिए। सचमुच वह दण्ड का अधिकारी है।

निष्कर्ष—

कृतघ्नता बहुत बड़ी बुरी वस्तु है। उसका फल सदा बुरा है।

[१६]

पुष्पाणि पाणियुगले न गले च माला,
लोकस्य कस्य निसृतस्य गृहाल्लतायाः।
साकं तया गुरुकुले पठिता न सा किं,
दत्ते न तक्रमपि या कृपणाऽतिथिभ्यः॥

सन्दर्भ—

काश्मीर में लताओं के कुंज तरह-तरह के फूलों से लदे रहते है। कुंजों में घूमने वाले लोग वहाँ से यथेच्छ फूल तोड़ते है, मालाएँ बना कर गले में पहनते है और साथ मे लाते भी हैं।

व्याख्या—

लता के घर में कोई आगन्तुक आता है तो वह उसके गले में माला पहनाती है और उसके दोनों हाथ पुष्पों से भर देती है—लता-गृह से बाहर निकलते हुए आगन्तुक को देख हम यह पाते हैं कि कितनी आदर्श-आतिथ्य-भावना उस लता मे हैं। मालूम होता है, उस कृपण महिला के साथ गुरुकुल में वह नहीं पढ़ी, जो घर आये को छाछ भी नहीं देती।

निष्कर्ष—

जड़-जगत् में भी आतिथ्य-वृत्ति है। फिर यदि मानव-समाज मे यह न मिले तो

[१७]

लज्जस्व पङ्कज ! न पङ्ककलङ्कयोगात्,
त्वं धार्यसेऽलककुले यदि सुन्दरीभिः ।
मूर्ध्नि स्थितः पशुपतेः शशलाञ्छितोऽपि,
चन्द्रो मुदा हसति शारदचन्द्रिकासु ॥

व्याख्या--

कीचड़ में कमल खिला है। कवि कमल को सम्बोधित कर कहता है—कमल ! तू कीचड़ में जन्मा है, यह सोच लज्जित मत हो। देख, तुझे सुन्दर रमणियाँ अपने बालों पर धारण करती हैं। यह तेरा कितना बड़ा मान है। चन्द्रमा में कलंक है—खरगोश का निशान है पर वह अपने गुणों के कारण शंकर के सिर पर स्थित है, तब उसकी (कलंक की) वह क्यों चिन्ता करे। वह तो शरद् ऋतु की चाँदनी रातों में प्रसन्नता के साथ हँसता रहता है, अपना हर्ष प्रगट करता है। तुझे भी उसकी तरह हँसना चाहिए।

निष्कर्ष—

कौन कहाँ जन्मा है, कैसी परम्परा से आया है, इसे कोई नहीं पूछता। सब गुण की पूजा करते हैं।

[१८]

दूरं न याति तरुतो मरुतोऽतिवेगा—
दप्याहता वनलता प्रियरागरक्ता।
या त्यक्तुमिच्छति पतिं निधनाद्धनस्य,
के वा स्तुवन्तु विकलां कलिकामिनीन्ताम् ॥

सन्दर्भ—

बड़े वेग से आँधी चल रही है। वृक्ष स्थिर खड़ा है। बेल वृक्ष के चारों ओर लिपटी है। आँधी के आघातों से भी वह दूर नहीं हटती।

व्याख्या—

वन की लता को अपने वृक्ष रूप प्रियतम से कितना प्रेम है। आँधी के जबर्दस्त

व्याख्या—

जिस भौंरे को कमलिनी ने दिन भर मधुर रस पिलाया। वही भौंरा शाम को ज्योंही पति (सूर्य) आँखों से ओझल हुए, सूने घर में घुस गया। तब यदि पतिव्रता कमलिनी ने उसे बाँधकर बन्दी बना लिया तो अब वह गुनगुनाहट के मिष रो क्यों रहा है? उस जैसे पापी और कृतघ्न को अपने किये का चुपचाप फल भुगतना चाहिए। सचमुच वह दण्ड का अधिकारी है।

निष्कर्ष—

कृतघ्नता बहुत बड़ी बुरी वस्तु है। उसका फल सदा बुरा है।

[१६]

पुष्पाणि पाणियुगले न गले च माला,
लोकस्य कस्य निसृतस्य गृहाल्लतायाः।
साकं तथा गुरुकुले पठिता न सा किं,
दत्ते न तक्रमपि या कृपणाऽतिथिभ्यः॥

सन्दर्भ—

काश्मीर में लताओं के कुंज तरह-तरह के फूलों से लदे रहते हैं। कुंजों में घूमने वाले लोग वहाँ से यथेच्छ फूल तोड़ते हैं, मालाएँ बना कर गले में पहनते हैं और साथ में लाते भी हैं।

व्याख्या—

लता के घर में कोई आगन्तुक आता है तो वह उसके गले में माला पहनाती है और उसके दोनों हाथ पुष्पों से भर देती है—लता-गृह से बाहर निकलते हुए आगन्तुक को देख हम यह पाते हैं कि कितनी आदर्श-आतिथ्य-भावना उस लता में है। मालूम होता है, उस कृपण महिला के साथ गुरुकुल में वह नहीं पढ़ी, जो घर आये को छाछ भी नहीं देती।

निष्कर्ष—

जड़-जगत् में भी आतिथ्य-वृत्ति है। फिर यदि मानव-समाज में यह न मिले तो

[१७]

लज्जस्व पङ्कज ! न पङ्ककलङ्कयोगात्,
त्वं धार्यसेऽलककुले यदि सुन्दरीभिः ।
मूर्ध्नि स्थितः पशुपतेः शशलाञ्छितोऽपि,
चन्द्रो मुदा हसति शारदचन्द्रिकासु ॥

व्याख्या—

कीचड़ में कमल खिला है। कवि कमल को सम्बोधित कर कहता है—कमल ! तू कीचड़ में जन्मा है, यह सोच लज्जित मत हो। देख, तुझे सुन्दर रमणियाँ अपने बालों पर धारण करती हैं। यह तेरा कितना बड़ा मान है। चन्द्रमा में कलंक है—खरगोश का निशान है पर वह अपने गुणों के कारण शंकर के सिर पर स्थित है, तब उसकी (कलंक की) वह क्यों चिन्ता करे। वह तो शरद् ऋतु की चाँदनी रातों में प्रसन्नता के साथ हँसता रहता है, अपना हर्ष प्रगट करता है। तुझे भी उसकी तरह हँसना चाहिए।

निष्कर्ष—

कौन कहाँ जन्मा है, कैसी परम्परा से आया है, इसे कोई नहीं पूछता। सब गुण की पूजा करते हैं।

[१८]

दूरं न याति तरुतो मरुतोऽतिवेगा—
दप्याहता वनलता प्रियरागरक्ता ।
या त्यक्तुमिच्छति पतिं निधनाद्धनस्य,
के वा स्तुवन्तु विकलां कलिकामिनीन्ताम् ॥

सन्दर्भ—

बड़े वेग से आँधी चल रही है। वृक्ष स्थिर खड़ा है। बेल वृक्ष के चारों ओर लिपटी है। आँधी के आघातों से भी वह दूर नहीं हटती।

व्याख्या—

वन की लता को अपने वृक्ष रूप प्रियतम से कितना प्रेम है। आँधी के जबर्दस्त

झोंकों से आहत होकर भी अपने प्रियतम को वह नहीं छोड़ती। यह तो हुई वनस्पति-जगत् की बात। पर जो कलियुग की मानवी धन के नष्ट हो जाने पर विपत्ति में अपने पति को छोड़ना चाहती है, उसकी कौन प्रशंसा करेंगे? वह सब की दृष्टि में निन्दा योग्य है।

निष्कर्ष—

पातिव्रत्य नारी का भूषण है। जिसमें यह नहीं, वह नारी नारीत्व से गिरी हुई है। धन जैसे गौण साधन के आने-जाने को लेकर पातिव्रत्य से विचलित होना बहुत बड़ी दुर्बलता है। धन जीवन का साध्य नहीं है।

[१३]

वक्षोभुवोऽपि निबिडं नितरां निगृह्णन्,
दिव्यां दिवं भवति कामयितुं महोच्चः।
कामाऽऽतुरो हिमगिरिः श्वशुरत्वहेतोः,
स्वाङ्कस्थमन्मथमथोऽपि बिभेति नेशः॥

सन्दर्भ—

काश्मीर में हिमालय की ऊँची-ऊँची चोटियाँ हैं। ऐसा लगता है—मानो वे आकाश को छूना चाहती हैं।

व्याख्या—

हिमालय काम से आतुर है। पृथ्वी रूपी पत्नी तो उसे प्राप्त है ही, जिसका वक्षःस्थल उसने ग्रहण कर रखा है। पर इतने से उसे सन्तोष कहाँ? वह आकाश[1] रूपी सुन्दर नारी को पाने की कामना से अत्यन्त ऊँचा हो रहा है। यद्यपि काम का नाश करने वाले शिव अमरनाथ के नाम से यहीं इसकी गोद में प्रवास करते हैं, पर वह उनसे नहीं डरता। क्योंकि यह ठहरा शिव का श्वशुर, फिर भला उनसे कैसे डरे!

1 संस्कृत में आकाश का वाचक दिव् शब्द स्त्रीलिङ्ग माना गया है।

निष्कर्ष—

बड़ों के सम्बन्ध का, उनके सहारे का कभी दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। जैसे कुछ लोग यह सोच, कर लेते हैं कि उन्हें कौन कुछ कहने वाला है, बड़े उनके हिमायती जो हैं। पर ऐसा करना अनुचित है।

[२०]

शस्यैः श्यामं स्वमङ्गं सितवसनसमैः श्वेतपुष्पैः पिधाय,
गौरत्वं दर्शयन्ती किसलयवलयाढ्यमेषोपत्यकेयम् ।
मुक्ताऽऽसक्तान् मरालान् पय इव धवलान् नो वशीकर्तुमीशा,
भाग्ये भृङ्गा अमुष्या विधिकरलिखिताः स्वानुरूपाः कुरूपाः ॥

सन्दर्भ—

पर्वत की उपत्यका नीले धान्य से ढकी है। किन्हीं लताओं के सफेद फूलों ने धान्य को छा रखा है। लताओं के कोमल किसलय उपत्यका की शोभा बढ़ा रहे हैं। भौंरे फूलों पर बैठे हैं। पर हँस उधर नहीं आते।

व्याख्या—

उपत्यका एक नारी है। उगा हुआ धान्य उसका श्याम वर्ण का शरीर है। वह हँसों को आकर्षित करना चाहती है, इसलिए अपने श्याम शरीर को सफेद फूलों के वस्त्रों से वह ढकती है। इस प्रकार वह अपना श्यामपन छिपा कर गोरापन दिखाना चाहती है। सुन्दरता बढ़ाने के लिए कोमल किसलय के कंकण भी वह धारण करती है। सफेद हँस उसके वास्तविक रूप को जानने के कारण उसकी ओर आकर्षित नहीं होते। वे तो मुक्ता-रूप गौर—धवल प्रेयसियों में आसक्त हैं। इस अभागी उपत्यका के भाग्य में तो अपने जैसे काले-कलूटे भौंरे ही लिखे हैं।

निष्कर्ष—

कृत्रिम रूप बना किसी को ठगने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

[२१]

नानारूपैः प्रसूनैर्विविधपटसमैश्चित्रितं वेषमाप्य,
गायन् व्यङ्गं विहङ्गैरविरतमरुता वादयन् वेणुवीणाम् ।
नृत्यन् वातासवृक्षैर्हिमकुलशकलैर्मन्दहास्यञ्च कुर्वन्,
शैलः शैलूषसाम्यं घटयति सुहृदां मानसानन्ददायी ॥

सन्दर्भ—

पर्वत प्रकृति के विविध उपकरणों से सज्जित बड़ा भला दीखता है।

उस पर तरह-तरह के फूल खिल रहे हैं। पक्षी मीठे स्वर से कलरव कर रहे हैं। वायु के योग से बाँसों से भी वर्णप्रिय नाद प्रगट होरहा है। हिलते हुए वृक्ष बड़े सुन्दर जान पड़ते हैं। दुग्ध-धवल वर्फ से पर्वत मंडित है।

व्याख्या—

पर्वत नट की तरह विविध वेष-भूषा और रूप-रंग धारण कर रहा है। वह नाना रूपवाले पुष्परूपी वस्त्रों से भिन्न-भिन्न वेष बनाता है। पक्षियों के कलरव के मिष वह मधुर राग अलापता है। अनवरत रूप में बहने वाली वायु के योग से बाँसों के नाद के बहाने मानो वह वीणा बजाता है। हवा के झोंकों से वृक्षों का हिलना उसका नृत्य है। बर्फ के खण्ड उसकी मन्द मुस्कान के प्रतीक हैं। इस प्रकार पर्वत नट की होड़ करता हुआ सहृदयों के लिए बड़ा आनन्द-प्रद है।

निष्कर्ष—

काश्मीर में प्रकृति बड़े रमणीय और सजीव रूप में विद्यमान है। जड़-जगत् भी उसकी गोद में बैठा आह्लादित है, चेतन की तो बात ही क्या!

[२२]

प्रत्यूषेऽधित्यकेयं खगरवमिषतो वेदमन्त्रान् जपन्ती,
देवानभ्यागतान् वा नवनवकुसुमैः सत्फलैरर्चयन्ती।
गोपायन्ती गुहायामनिकटविकटैर्वर्त्मभिर्मन्मथारिं,
रत्याः सत्याः प्रमत्त्यं मृतमपि मदनं जीवयन्तीव भाति॥

सन्दर्भ—

ऊषा की मनोरम वेला है। पर्वत की ऊपरी घाटी बड़ी मनभावनी लगती है। पक्षी वहाँ मधुर कलरव कर रहे हैं। भक्त आते हैं, फल-फूल तोड़ते हैं, देवताओं के चढ़ाते हैं—अर्चना करते हैं। आने वाले पर्यटक भी फलों और फूलों का सेवन कर आनन्द लेते हैं। अधित्यका में होता हुआ टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग अमरनाथ की गुफा की ओर जा रहा है। पर्वतीय भूमि के ऊँचे-नीचेपन तथा टेढ़े-मेढ़े मार्ग के कारण व गुफा के भीतर स्थित होने से अमरनाथ की मूर्त्ति दीख नहीं रही है, गोपित-सी पड़ी है।

व्याख्या—

शिव ने कामदेव को भस्म कर दिया। काम की पत्नी रति इससे बहुत दुःखी है। पर्वतीय घाटी चाहती है कि वह किसी-न-किसी तरह कामदेव को जीवित कर रति के विषाद को हर्ष में बदल दे। इसके लिए वह प्रभात होते ही दान-पुण्य, पूजा-उपासना आदि ऐसे सत्कर्मों में लग जाती है, जिससे देवता प्रसन्न होकर कामदेव को जीवन बख्शें। जैसे—वह पक्षियों के कलरव के रूप में वेदमन्त्रों का जप कर रही है। नये-नये फूलों और अच्छे-अच्छे फलों से वह देवताओं तथा अतिथियों का सत्कार करती है। इन सत्क्रियाओं के परिणामस्वरूप पुनर्जीवित होते हुए कामदेव को शिव कहीं भस्म न कर दें, इस आशंका से वह शिव को टेढ़े-मेढ़े मार्गों से गुफा में छिपाये रखती है।

निष्कर्ष—

किसी भी लक्ष्य को पूरा करने के लिए उसके साधक हेतुओं का संयोजन और बाधक का वियोजन करने से ही सफलता की आशा की जा सकती है।

[२३]

क्षारं क्षीरं न दृष्टं न च बहुवड़वावह्निविद्धं शरीरं,
जामातुस्तोयराशेः करकृतकमला केवलाऽऽलोकि पित्रा।
एवं नद्यो रुदत्यो गुरुरवमिपतो यान्ति पत्युर्गृहाय,
धन्याः कन्याः पितॄणां वरविधिविषये नान्यथात्वं सृजन्ति॥

सन्दर्भ—

पहाड़ी नदियां बह रही हैं। उनका प्रवाह समुद्र की ओर है। वे कल-कल निनाद करती द्रुतगति से आगे बढ़ती जा रही हैं।

व्याख्या—

नदियाँ पर्वत की पुत्रियाँ हैं। पिता ने उनका समुद्र से पाणि-ग्रहण कराया। वे अब अपने पति के घर जा रही हैं। वे अपने कल-कल निनाद के मिष रोती हुई कहती जाती हैं कि हमारे पिता ने समुद्र के न कटु स्वभाव को देखा और न उसके अस्वस्थ तथा रुग्ण शरीर को ही, केवल लक्ष्मी को देखा और हमें उसके हाथ सौंप दिया।

समुद्र का खारा पानी उसके कटु स्वभाव का प्रतीक है और बड़वाग्नि की लपटों से व्याप्त उसका जल उसके अस्वस्थ और रुग्ण शरीर का।

पिता कन्या के लिए जैसा भी वर निश्चित कर देते हैं, वह उसके साथ बिना नाक भौंह सिकोड़े चल देती है, यह उसकी कितनी भारी सहनशीलता है।

निष्कर्ष—

कन्या पिता के सामने कुछ बोलती नहीं तो क्या हुआ, बेमेल वर को देख उसका जी तो दुख पाता ही है। पिता को कन्या पर ऐसा अत्याचार नहीं करना चाहिए।

[२४]

अद्रिद्वयैरुभयतो विनिगृह्यमाणा,
यान्ती पतिं पथि ततोऽपि सरिद् वितस्ता।
सङ्कोचमेति बहुधावति कम्पते च,
भीता सतीव परपूरुषदुर्गृहीता॥

सन्दर्भ—

काश्मीर में झेलम नदी बहती है। इसका पाट बहुत विस्तृत है। पर कहीं-कहीं इसके प्रवाह के दोनों ओर संकड़ी घाटियाँ आ गई हैं, जिनमें इसकी धारा भी संकड़ी हो गई है। मार्ग संकड़ा होने से वहाँ यह बहुत तेज बहती है और इसमें प्रचुर तरंगें उठती हैं।

व्याख्या—

झेलम नदी अपने पति के यहाँ जा रही है। मार्ग में आजू-बाजू दो-दो पहाड़ों की टोलियों द्वारा आक्रान्त होने पर इसकी वही दशा हो रही है, जो परपुरुषों द्वारा रोकी जाती हुई पतिव्रता नारी की होती है। अपने बचाव के लिए सती जिस तरह अपने आपमें सिकुड़ जाती है, तेजी से भाग जाने का प्रयत्न करती है, भय से काँपती है, वैसा ही इस समय यह झेलम कर रही है। अपनी धारा को यह सिकोड़ रही है, इसका प्रवाह बहुत तेज हो गया है और बार-बार उठती हुई प्रचुर तरंगों के मिष से यह अपना कम्पन प्रकट कर रही है।

निष्कर्ष—

सतीत्व, चारित्र्य आदि आत्म-गुणों के संरक्षण के लिए सदैव प्रयत्न-शील रहना चाहिए।

[२५]

एकेन रक्तगिरिणा रजसा निजेन,
रक्तीकृता विकलकेलितयेव हाल्याः।
कोपाऽरुणेव तमसभ्यमसंख्यपादै—
र्भूयो हिनस्त्युपरितः पतनच्छलेन ॥

सन्दर्भ—

काश्मीर जिन पर्वत-श्रेणियों पर बसा है, वे रूप-रंग, आकार-प्रकार आदि में एक समान नहीं हैं, भिन्न-भिन्न तरह की हैं।

कहीं एक लाल रंग की श्रेणी है। उसके गेरु-कणों से मिल जाने से झेलम का पानी लाल हो गया है। उसका प्रवाह पर्वत की ऊपर की श्रेणी से अनवरत रूप में वेगपूर्वक निचली श्रेणी पर गिर रहा है।

व्याख्या—

झेलम नदी अपनी मंजिल तय कर रही है। किसी लाल पर्वत ने होली के मूर्खतापूर्ण खेल की तरह उसमें गेरुकण डाल उसे लाल कर दिया है। पर-पुरुष एक सती के साथ असभ्यतापूर्ण व्यवहार करे—यह सती के लिए कैसे सह्य हो सकता है। क्रोध से नदी की लालिमा और बढ़ गई तथा ऊपर से नीचे गिरने के मिष वह उस उद्धत पर्वत को बार-बार अनगिनत लातों से मार रही है।

निष्कर्ष—

कलुषित व्यवहार पतन का मार्ग है। किसी भी समझदार व्यक्ति को उस पर नहीं चलना चाहिए। त्यौहारों में तो जो सात्त्विकता के प्रतीक हैं, गन्दा व्यवहार सर्वथा वर्जनीय है।

[२६]

कोणद्वयाग्रमिषवर्तिभुजद्वयेन,
संस्प्रष्टुमिच्छतितरां परपर्वतोऽपि।
अध्वावरोधकविशालशिला निकीर्य,
प्राप्तामिमां स्वसदने मदनेरिताभः ॥

सन्दर्भ—

झेलम पहाड़ों में होती हुई बहती जा रही है। आगे मार्ग में एक ऐसा पहाड़ आ जाता है, जिसके दो कोने भुजाओं की तरह आगे निकले हुए हैं। वह (झेलम) बड़ी तेजी से बह रही है। प्रवाह के वेग से पहाड़ की बहुत-सी शिलाएं टूट-टूट कर पानी में बिखर गई हैं।

व्याख्या—

झेलम अपने मार्ग पर बहती जा रही है। एक दूसरा पर्वत अपने आगे निकले हुए दो कोनों रूपी भुजाओं में उसे पकड़ लेना चाहता है। यह मेरे घर में आ गई है, कहीं हाथ से निकल न जाय—यह सोच वह (पर्वत) इसके मार्ग को रोकने के लिए अपना बड़ी-बड़ी शिलाएँ बिखेर रहा है।

निष्कर्ष—

वैषयिक सुख-लिप्सा प्राणी को अन्धा बना देती है, उसका दमन कर संयम की ओर बढ़ना चाहिए।

[२७]

संगम्य संगममुखं सरितः कुतश्चित्,
काश्चित् परा अपि पराचलपीड्यमाना।
भूयो रुदन्त्यनुसखीर्बहु रोदयन्त्यो,
दुर्धर्षघोषमिषतो मिलिता मिथोऽङ्गैः॥

सन्दर्भ—

झेलम तथा भिन्न-भिन्न पहाड़ों से आती हुई और दूसरी बहुत-सी नदियाँ संगम-मुख पर आपस में मिल रही हैं। उनके बहने के शब्द आपस में मिलकर एक दुर्धर्ष घोष का रूप ले रहे हैं।

व्याख्या—

संगम-मुख पर और दूसरी नदियाँ भी आ-आकर मिल रही हैं। उनको अन्यान्य पहाड़ों ने बहुत सताया है। वे आपस में एक दूसरी से अंग-से-अंग मिलाकर प्रवाह के दुर्धर्ष शब्द के मिष बुरी तरह रो रही हैं और उनकी सखियाँ भी रोने में उनका साथ दे रही हैं।

निष्कर्ष—

शोषित वर्ग अपने साथियों की विपत्ति में सहानुभूति-शील बने। इससे ऐक्य और संगठन बढ़ता है, जो शक्ति का स्रोत है।

[२८]

जातिः क्षमा दलयितुं निजजातिमेव,
ज्ञात्वेति गह्व गिरयो जलजातिजानाम्।
क्रूरां चमूं व्यरचयत् तुहिनोपलानां,
रोद्धुं बलाज्जलनिधेर्गृहिणीः समग्राः॥

सन्दर्भ—

काश्मीर में जहाँ-तहाँ अतिशीत वाले स्थानों में नदियों पर बर्फ की तह-सी जमी रहती है। प्रस्तुत पद्य में ऐसी ही नदियों का चित्रण है।

व्याख्या—

पर्वतों ने देखा कि नदियों को अपने वश में करने का जितना प्रयास उन्होंने किया, सब व्यर्थ गया। अब यह सोचकर कि "जाति-ही-जाति का दलन कर सकती है", उन्होंने बर्फ की एक क्रूर सेना तैयार की। बर्फ जल-निष्पन्न होने से नदी की सजातीय है। नदियों का अवरोध करने के लिए उन्होंने बर्फ की सेना को उन पर सब ओर छा दिया।

निष्कर्ष—

नीच व्यक्ति अपना दुर्लक्ष्य पूरा करने को बुरे से बुरा काम करते भी नहीं हिचकिचाता। पर दूसरों को उसके हाथों की कठपुतली नहीं बनना चाहिए।

[२९]

व्यूहेऽव्यये विरचितेऽपि तुषारपिण्डै—
स्तुच्छैव काऽपि सिततोयमिषाद्धसन्ती
लम्बोदरी कृतदरी प्रवहत्यधस्तात्,
स्वीयं पतिं जलपतिं परिरब्धुकामा॥

सन्दर्भ—

काश्मीर की छोटी नदियों में एक लम्बोदरी नामक नदी है। वह

बर्फीले प्रदेश में बहती है। उस पर बर्फ की पर्त जमी रहती है। अपने पानी से गला-गलाकर पर्त में बहुत-सी जगह उसने छेद बना दिये हैं और वह निर्मल जल वाली लम्बोदरी स्वयं पर्त के नीचे बड़े मजे से बहती हुई समुद्र की ओर जा रही है।

व्याख्या—

पर्वतों ने नदियों को रोकने के लिए बर्फ की शिलाओं से जबर्दस्त मोर्चाबन्दी की। पर उससे बना क्या? बड़ी नदियों की तो बात ही क्या, लम्बोदरी नामक छोटी-सी नदी ने भी उस मोर्चाबन्दी में स्थान-स्थान पर दरारें डाल दीं और अपने उजले पानी के मिष हँसती हुई वह अपने प्रियतम से मिलने को उत्सुक नीचे-नीचे खुशी से चली जा रही है।

निष्कर्ष—

दुष्टों की दुरभिसन्धि से कभी घबराना नहीं चाहिए। साहस के साथ उससे लोहा लेना चाहिए। दुर्जन अपना-सा मुँह लिये रह जायेंगे।

[३०]

काचिद् विधाय सरिदध्वनि घोरयुद्धं,
सम्यग् विदारयति वज्र वपुर्हिमानाम्।
कर्तव्यमूढ इव रोदिति तद् विलोक्य,
कश्चिद् गिरिर्बहु वहन् निजनिर्झराश्रु ॥

सन्दर्भ—

बर्फीले प्रदेश की एक नदी बह रही है। उस पर जमी हुई बर्फ गल-गल कर खण्ड-खण्ड हो गई है। पास में एक पर्वत स्थित है, जिससे तेज झरना नीचे गिर रहा है।

व्याख्या—

पर्वतों ने मोर्चाबन्दी की, उससे नदियाँ घबराईं नहीं। वे निरन्तर उससे टक्कर ले रही हैं। एक नदी मार्ग में घोर युद्ध करती आ रही है। बर्फ के वज्र जैसे कड़े शरीर को विदीर्ण कर रही है। पास में खड़े पर्वत ने यह देखा। वह किंकर्तव्यविमूढ हो चला। अब निर्झर के मिष बुरी तरह आँसू बहाता हुआ वह अपने किये पर रो रहा है।

निष्कर्ष—

भय से घबराना अच्छा नहीं। उसका सामना करना चाहिए। दुष्टों के पैर कच्चे होते हैं। सामना करने पर वे टिक नहीं पाते।

[३१]

विच्छिद्य काचन शिरोऽङ्घ्रिकरं तदीयं,
भूयो विभीषयत एव तटस्थपान्थान्।
संस्पृष्ट एव गलति स्वयमेव भीतो,
दृष्ट्वा विशीर्णशिरसः सहयोगिनोऽन्यः॥

सन्दर्भ—

तुषारबहुल प्रदेश की एक दूसरी नदी में बर्फ गल-गल कर ऐसी आकृतियों की हो गई है कि उनमें से कुछ तो मृत मनुष्यों के शिर से प्रतीत होते हैं, कुछ पैर से और कुछ हाथ से। तटवर्ती राहगीर सहसा उन्हें देख भयभीत से लगते हैं। नदी में बर्फ के टुकड़े जल के योग से निरन्तर गलते जा रहे हैं।

व्याख्या—

मोर्चे में जूझती हुई नदियों में से एक ने कतिपय आक्रान्ताओं के शिर, पैर और हाथ काट गिराये, जिन्हें पानी में बहते देख तटवर्ती पथिक भयभीत हो रहे हैं। आक्रान्ता अपने साथियों की यह दशा देख साहस छोड़ते जा रहे हैं और ज्यों ही नदी उन्हें छूती है, वे भय के मारे मिट जाते हैं—गल जाते हैं।

निष्कर्ष—

दुर्जनों में आत्म-बल नहीं होता। पराभव देख वे झट घुटने टेक देते हैं।

[३२]

त्राणाय तोयपतिना पथिवर्तिपत्न्या,
दत्त्वा निजं जलबलं प्रहितोऽम्बुदोऽपि।
छिन्दन् हिमान् निशितकुन्तनिभैः पृषद्भि-
र्जातो विपन्नसरितः सफलः सहायः॥

सन्दर्भ—

आकाश में घन-घटाएँ उमड़ी आ रही है। नन्हीं-नन्हीं बून्दें गिर रही है। नदी पर जमी बर्फ तेज बून्दों के आघात से छिन्न-भिन्न हो रही है।

व्याख्या—

नदियों के पति समुद्र ने देखा—मार्ग में मेरी पत्नियों पर विपत्ति आ पड़ी है। उसने जल की सेना देकर बादल को भेजा। बादल आते ही नदियों की सहायता में लग गया। उसने तेज भालों की तरह तीखी तीखी बून्दें गिराना शुरु किया। बर्फ का मोर्चा छिन्न-भिन्न होने लगा।

निष्कर्ष—

पत्नी पातिव्रत्य-पालन के लिए जब अपनी जान की बाजी लगा देती है तो पति का भी यह उत्तरदायित्व है कि वह उसका संरक्षण करना अपना सबसे पहला कर्तव्य समझे।

[३३]

एकाऽरुणाचलपतद्रजसां मिषेण,
रक्ता हिमोपलकुलक्षतविक्षतैका।
स्पृष्टाऽपि पादयुगयोरुपलैः क्षमार्थं,
राज्ञे निवेदनकृते जवमेति जम्मूम्॥

सन्दर्भ—

लाल पर्वत के पास से एक नदी बहती जा रही है। पर्वत के रजकण उसके भीतर गिर रहे है। उसका पानी लाल हो गया है। पानी में पर्वत के शिला खण्ड बिखरे पड़े है। वह वेगपूर्वक अनिरुद्ध गति से जम्मू की ओर बढ़ती जा रही है।

व्याख्या—

बर्फ की शिलाओं के आघात से नदी क्षत-विक्षत है। लाल पर्वत से गिरते हुए रजकण तो उसकी लालिमा का केवल मिष हैं, वास्तव में वह घायल होने के कारण खून से लथपथ है—लाल है। आक्रान्ताओं के विरुद्ध वह राजा के सम्मुख शिकायत करने वेग से काश्मीर की राजधानी जम्मू की ओर बढ़ती जा रही है। दण्ड के भय से पर्वत की खण्ड शिलाएँ नदी से क्षमा पाने के लिए बार-बार उसके चरण छू रही हैं, पर नदी इस ओर जरा भी ध्यान दिये बिना आगे बढ़ती जा रही है।

निष्कर्ष—

दुर्जन जितना शीघ्र अपराध कर बैठते हैं, वैसे ही झट क्षमा मांगने को भी तैयार रहते हैं। पर उनका क्षमा मांगना भय-जन्य है, अपने कुकर्म के प्रति आत्म-ग्लानि का प्रायः उनमें अभाव रहता है। ऐसी स्थिति में उनके क्षमा मांगने का क्या महत्त्व !

[३४]

पादोत्पले पशुपतेरमरावतीति,
काचिन्नदी पतति सिञ्चति पादपांश्च ।
शीताम्बु पाययति पान्थजनान् पिपासून्,
पुण्यैरमीभिरथ कान्तमवाप्तुकामा ॥

सन्दर्भ—

अमरावती नामक एक नदी अमरनाथ के नीचे होती हुई बहती है। मार्गवर्ती वृक्षों को वह सींचती है। दया से राहगीर उसका ठंडा पानी पीते हैं। इस तरह यह नदी अपनी मंजिल तय करती हुई समुद्र की ओर जा रही है।

व्याख्या—

अमरावती नामक नदी अपने पति समुद्र को पाने की कामना से शिव के चरणकमलों में नत हो रही है, वृक्षों को सींच रही है और राहगीरों को अपना शीतल जल पिला रही है। वह आशा करती है कि इन पुण्य कार्यों के फल से उसका पति उसको मिलेगा।

निष्कर्ष—

पतिव्रता में पति के प्रति पूर्ण निष्ठा होती है। उसे पाने के लिए अपनी ओर से वह कुछ उठा नहीं रखती।

[३५]

वाताऽवधूततरवो निजपर्णपाणीन्,
कृत्वाऽग्रतो गिरिगणानिति गर्ह्यकृत्यात् ।
सम्यङ् निवर्त्य कथयन्ति स्वच्छलेन,
रत्नाकरप्रणयिनीति नदी न दीना ॥

सन्दर्भ—

वायु वेग से चल रही है। वृक्ष उससे कम्पित है। उनके पत्ते पहाड़ों के सम्मुख मुड़-मुड़कर हिल रहे है, जिनकी मर्मर ध्वनि सबको सुनाई देती है।

व्याख्या—

वायु से कम्पित वृक्ष अपने पत्ते रूप हाथों को आगे कर पर्वतों को इस निन्दनीय कार्य से रोक रहे हैं। अपनी मर्मर-ध्वनि के मिष मानो वे कह रहे हैं कि यह (नदी) रत्नाकर—रत्नों की निधि समुद्र की प्रेयसी है। दीन नहीं है।

निष्कर्ष—

सज्जन दूसरों को विपत्ति में देख उनके प्रति सहानुभूति दिखलाते हैं, जैसा बन पड़ता है, सहायता करने का भी प्रयास करते हैं।

[३६]

राज्ञीव शुभ्रवसना क्कचित् तुषारै—
र्यूरोपयोषिदुपमा क्वचिदर्धनग्ना।
नग्ना क्कहाप्युभयतो वनमानुषीव,
नैरयल्पतामुपगता तटिनी नटीतः॥

सन्दर्भ—

कहीं जहाँ बर्फ अधिक जमी है, नदी का जल पूरी तरह उससे ढक गया है। कहीं नदी बर्फ से आधी ढकी है, आधी नहीं। और कहीं कहीं उस पर जरा भी बर्फ नहीं है, पानी साफ नजर आता है,

व्याख्या—

नदी विविध वेष धारण कर रही है। वह नटिनी से कोई कम नहीं है। कहीं बर्फ से आच्छन्न होने के मिष वह रानी की तरह शुभ्र वस्त्रों से सज्जित दिखाई देती है। कहीं जहाँ बर्फ से पूरी तरह आच्छन्न नहीं है, यूरोपीय नारी की तरह आधी नंगी और आधी पहनी-ओढ़ी लगती है और कहीं जहाँ जरा भी बर्फ से ढकी नहीं, वन-मानुषी की तरह नंगी दीखती है।

निष्कर्ष—

संसार की प्रत्येक वस्तु में विविध-रूपता—परिवर्तनशीलता दिखाई देती है।

[३७]

देहं स्वमानखशिखं तुहिनैः पिधाय,
धत्तेऽवगुण्ठनमियं पितुरेव गेहे।
नग्ना परन्तु चलति स्वपतिप्रदेशे,
कीदृक् त्रपाविधिरयं सरितो नवीनः॥

सन्दर्भ—

नदी पर्वत से निकल कर बह रही है। वह बर्फ से ढकी है। ज्यों-ज्यों वह समुद्र के निकट पहुँचती है, बर्फ का आवरण मिटता जाता है।

व्याख्या—

नदी एड़ी से चोटी तक अपने को बर्फ से ढक पिता के घर में भी पर्दा धारण कर रही है। पर अपने पति के प्रदेश में जब पहुँचती है तो नंगी होकर वह चलती है। लज्जा-प्रदर्शन की कैसी नई विधि नदी ने स्वीकार की है—आश्चर्य है।

निष्कर्ष—

जहाँ जिस वस्तु या परम्परा का औचित्य हो, वहीं उसका पालन अपेक्षित है। उसके विपरीत आचरण उपहासास्पद होता है।

[३८]

उच्चत्वमत्तमनुजा पुरुषं पुरा यं,
मूर्द्ध्ना धरन्ति तमधोऽनु निपातयन्ति।
शब्दच्छलाद् विलपतीति वहन् जलाश्रु,
हा निर्झरोऽद्रिपतितः सरिता गृहीतः॥

सन्दर्भ—

ऊँचे पर्वत से गिरता हुआ झरना शब्दायमान है। नीचे गिरते ही झरने का जल नदी में मिल जाता।

व्याख्या—

पर्वत झरने को नीचे गिरा रहा है। झरना जल-रूप आँसू टपकाता हुआ शब्द के छल से विलाप करता है कि ऊँचापन मनुष्य को प्रमत्त तथा गर्वित बना उसका विवेक

सन्दर्भ—

वायु वेग से चल रही है। वृक्ष उससे कम्पित हैं। उनके पत्ते पहाड़ों के सम्मुख मुड़-मुड़कर हिल रहे है, जिनकी मर्मर ध्वनि सबको सुनाई देती है।

व्याख्या—

वायु से कंपित वृक्ष अपने पत्ते रूप हाथों को आगे कर पर्वतों को इस निन्दनीय कार्य से रोक रहे हैं। अपनी मर्मर-ध्वनि के मिष मानो वे कह रहे हैं कि यह (नदी) रत्नाकर—रत्नों की निधि समुद्र की प्रेयसी है। दीन नहीं है।

निष्कर्ष—

सज्जन दूसरों को विपत्ति में देख उनके प्रति सहानुभूति दिखलाते हैं, जैसा बन पड़ता है, सहायता करने का भी प्रयास करते हैं।

[३६]

राज्ञीव शुभ्रवसना क्वचित् तुषारै—
यूरोपयोषिदुपमा क्वचिदर्धनग्ना।
नग्ना कुहाप्युभयतो वनमानुषीव,
नैत्यल्पताम्नुपगता तटिनी नटीतः॥

सन्दर्भ—

कहीं जहाँ बर्फ अधिक जमी है, नदी का जल पूरी तरह उससे ढक गया है। कहीं नदी बर्फ से आधी ढकी है, आधी नहीं। और कहीं कहीं उस पर जरा भी बर्फ नही है, पानी साफ नजर आता है,

व्याख्या—

नदी विविध वेष धारण कर रही है। वह नटिनी से कोई कम नहीं है। कहीं बर्फ से आच्छन्न होने के मिष वह रानी की तरह शुभ्र वस्त्रों से सज्जित दिखाई देती है। कहीं जहाँ बर्फ से पूरी तरह आच्छन्न नहीं है, यूरोपीय नारी की तरह आधी नगी और आधी पहनी-ओढ़ी लगती है और कहीं जहाँ जरा भी बर्फ से ढकी नहीं, वन-मानुषी की तरह नंगी दीखती है।

निष्कर्ष—

संसार की प्रत्येक वस्तु में विविध-रूपता—परिवर्तनशीलता दिखाई देती है।

[३७]

देहं स्वमानखशिखं तुहिनैः पिधाय,
धत्तेऽवगुण्ठनमियं पितुरेव गेहे।
नग्ना परन्तु चलति स्वपतिप्रदेशे,
कीदृक् त्रपाविधिरयं सरितो नवीनः॥

सन्दर्भ—

नदी पर्वत से निकल कर बह रही है। वह बर्फ से ढकी है। ज्यों-ज्यों वह समुद्र के निकट पहुँचती है, बर्फ का आवरण मिटता जाता है।

व्याख्या—

नदी एड़ी से चोटी तक अपने को बर्फ से ढक पिता के घर में भी पर्दा धारण कर रही है। पर अपने पति के प्रदेश में जब पहुँचती है तो नंगी होकर वह चलती है। लज्जा-प्रदर्शन की कैसी नई विधि नदी ने स्वीकार की है—आश्चर्य है।

निष्कर्ष—

जहाँ जिस वस्तु या परम्परा का औचित्य हो, वहीं उसका पालन अपेक्षित है। उसके विपरीत आचरण उपहासास्पद होता है।

[३८]

उच्चत्वमत्तमनुजा पुरुषं पुरा यं,
मूर्द्ध्नी धरन्ति तमधोऽनु निपातयन्ति।
शब्दच्छलाद् विलपतीति वहन् जलाश्रु,
हा निर्झरोऽद्रिपतितः सरिता गृहीतः॥

सन्दर्भ—

ऊँचे पर्वत से गिरता हुआ झरना शब्दायमान है। नीचे गिरते ही झरने का जल नदी में मिल जाता।

व्याख्या—

पर्वत झरने को नीचे गिरा रहा है। झरना जल-रूप आँसू टपकाता हुआ शब्द के छल से विलाप करता है कि ऊँचापन मनुष्य को प्रमत्त तथा गर्वित बना उसका विवेक

हर लेता है, इसलिए ऐसे लोग पहले जिस व्यक्ति को शिर पर चढ़ाये रखते हैं, उसे नीचे गिराते भी देर नहीं लगाते। मेरे साथ भी तो पर्वत ने ऐसा ही किया।

दुःख से चीखता हुआ झरना ज्योंही नीचे गिरता है, नदी उसे आश्रय देती है—अपने में मिला लेती है।

निष्कर्ष—

जिनको ऊँचेपन का अहंकार होता है, वे भला किसके मित्र! ऊँचे चढ़ाते जहाँ वे देर नहीं लगाते, नीचे गिराते भी उनके क्या देर!

[३९]

स्वीये गृहे गिरिगणच्युतनिर्झरेभ्यो,
दत्त्वाश्रयं जलनिधेर्वनिता नितान्तम्।
अम्भोविभूतिमभजन्त परां प्रवृद्धां,
कस्योन्नतिं वितनुते न परोपकारः॥

सन्दर्भ—

पहाड़ों से झरने झर रहे हैं। वे नदी में मिल रहे हैं। उनके मिलने से नदी का जल बढ़ रहा है।

व्याख्या—

पर्वतों ने जिन-जिन झरनों को गिराया, समुद्र की पत्नी नदी ने उनको अपने घर में शरण दी। फलतः उसका जल-वैभव बढ़ता गया। परोपकार किसकी उन्नति नहीं करता।

निष्कर्ष—

विपद्ग्रस्त को शरण देना ऊँचे और सहृदय व्यक्तियों का काम है। इससे उनका कुछ घटता नहीं, बढ़ता ही है।

[४०]

स्वल्पे पयस्यपि पुरा शरणं प्रयाता,
ये पालिताः प्रतिपलं स्वगृहे यथैव।

तानेव तीरजतरूनमिताम्बुपूर्णा,
कूलङ्कषा कषति साम्प्रतमर्थमाद्यात् ॥

सन्दर्भ—

नदी में पहले कम पानी था। तटवर्ती वृक्ष उससे पोषण पाते थे। अब वह अपरिमित जल से लबालब भरी बहती जा रही है। किनारे के वृक्षों को उखाड़ती हुई आगे बढ़ रही है।

व्याख्या—

एक समय था—नदी जल से भरी हुई नहीं थी, उसमें कम पानी था। वृक्ष उसकी शरण में आये। वह पल-पल उन्हें पालती रही—सींचती रही। पर आज वह अपार जल से भरी है। अपने वैभव का उसे अहंकार है। जिन तटवर्ती वृक्षों को इसने जल सींच-सींच पाला, उन्हीं को आज यह स्वयं उन्मूलित करती जा रही है।

निष्कर्ष—

वैभव के मद से कौन अछूता रहता है। ऐसे समय में जो विवेक न खोये, वह प्रशंसा के योग्य है।

[४१]

भिद्धोपलैः शल्यसमैरसंख्यैः,
स्रोतस्विनी मर्मसु पीडितेव।
हा हेति कोलाहलमावहन्ती,
शेते निशायामपि नाद्य काचित् ॥

सन्दर्भ—

निशा की शान्त वेला! नदी कलकल करती बह रही है। पर्वत से टूट-टूट कर आये और आपस में रगड़ से तीखे बने अनगिनत पत्थरों से वह भरी है।

व्याख्या

अनगिनत पत्थरों ने काँटों की तरह नदी को बींध डाला है। उसके मर्म-मर्म में पीड़ा है। इस पीड़ा के मारे वह अपने कल-कल के मिष करुण क्रन्दन कर रही है। रात को उसे नींद कैसे आये?

हर लेना है, इसलिए ऐसे लोग पहले जिस व्यक्ति को शिर पर चढ़ाये रखते हैं, उसे नीचे गिराते भी देर नहीं लगाते। मेरे साथ भी तो पर्वत ने ऐसा ही किया।

दुख से चीखता हुआ झरना ज्योंही नीचे गिरता है, नदी उसे आश्रय देती है—अपने में मिला लेती है।

निष्कर्ष—

जिनको ऊँचेपन का अहंकार होता है, वे भला किसके मित्र! ऊँचे चढ़ाते जहाँ वे देर नहीं लगाते, नीचे गिराते भी उनके क्या देर!

[३९]

स्वीये गृहे गिरिगणच्युतनिर्झरेभ्यो,
दत्वाश्रयं जलनिधेर्वनिता नितान्तम्।
अम्भोविभूतिमभजन्त परां प्रवृद्धां,
कस्योन्नतिं वितनुते न परोपकारः ॥

सन्दर्भ—

पहाड़ों से झरने झर रहे हैं। वे नदी में मिल रहे हैं। उनके मिलने से नदी का जल बढ़ रहा है।

व्याख्या—

पर्वतों ने भिन्न-भिन्न झरनों को गिराया, समुद्र की पत्नी नदी ने उनको अपने घर में शरण दी। फलतः उसका जल-वैभव बढ़ता गया। परोपकार किसकी उन्नति नहीं करता।

निष्कर्ष—

विपद्ग्रस्त को शरण देना ऊँचे और सहृदय व्यक्तियों का काम है। इसमें उनका कुछ घटता नहीं, बढ़ता ही है।

[४०]

स्वल्पे पयस्यपि पुरा शरणं प्रयाता,
ये पालिताः प्रतिपलं स्वगृहे ययैव।

तानेव तीरजतरूनमिताम्बुपूर्णा,
कूलङ्कषा कषति साम्प्रतमर्थमाद्यात् ॥

सन्दर्भ—

नदी में पहले कम पानी था। तटवर्ती वृक्ष उससे पोषण पाते थे। अब वह अपरिमित जल से लबालब भरी बहती जा रही है। किनारे के वृक्षों को उखाड़ती हुई आगे बढ़ रही है।

व्याख्या—

एक समय था—नदी जल से भरी हुई नहीं थी, उसमें कम पानी था। वृक्ष उसकी शरण में आये। वह पल-पल उन्हें पालती रही—सींचती रही। पर आज वह अपार जल से भरी है। अपने वैभव का उसे अहंकार है। जिन तटवर्ती वृक्षों को इसने जल सींच-सींच पाला, उन्हीं को आज वह स्वयं उन्मूलित करती जा रही है।

निष्कर्ष—

वैभव के मद से कौन अछूता रहता है। ऐसे समय में जो विवेक न खोये, वह प्रशंसा के योग्य है।

[८१]

विद्धोपलैः शल्यसमैरसंख्यैः,
स्रोतस्विनी मर्मसु पीडितेव।
हा हेति कोलाहलमावहन्ती,
शेते निशायामपि नाद्य काचित् ॥

सन्दर्भ—

निशा की शान्त वेला! नदी कलकल करती बह रही है। पर्वत से टूट-टूट कर आये और आपस में रगड़ से तीखे बने अनगिनत पत्थरों से वह भरी है।

व्याख्या

अनगिनत पत्थरों ने काँटों की तरह नदी को बींध डाला है। उसके मर्म-मर्म में पीड़ा है। इस पीड़ा के मारे वह अपने कल-कल के मिष करुण क्रन्दन कर रही है। रात को उसे नींद कैसे आये?

[४२]

नालीन् नलिन्यो मकरन्दपाना–
दुष्णांशुतप्ता अपि वारयन्ति ।
शप्ता इव स्वैःकृपणैः पतीन्द्रैः,
दारा उदारा अशनात् क्षुधार्त्तान् ॥

सन्दर्भ—

ग्रीष्म ऋतु का आतपमय काल ! कमलिनियाँ सूरज की तेज किरणों से परितप्त है। भौंरे उनका मकरन्द पी रहे हैं।

व्याख्या—

कमलिनियाँ विपद्ग्रस्त हैं। सूरज की तेज किरणें उन्हें जलाये जा रही हैं। भौंरे मकरन्द पीने को बार-बार उनके पास आते हैं। सूर्य कमलिनियों का पति है, उस द्वारा ताड़ित और तापित होने पर भी वे उन्हें रोकती नहीं। वे कमलिनियाँ उन उदार नारियों की तरह हैं, जो अपने कंजूस पतियों द्वारा बार-बार डाँटे जाने पर भी भूखों को भोजन देने से नहीं रुकती।

निष्कर्ष—

नारी में स्वाभाविक उदारता होती है। वह क्लेश-ग्रस्त होने पर भी उदारता नहीं छोड़ती।

[४३]

तीरं व्याप्य स्थितायाः अतुलितसलिलैः शैवलिन्या बलिन्या,
नौका नौकांसि हातुं प्रभवति पतिता पादयोः राश्रितोऽपि ।
नावा नाऽधादि किञ्चित् कुशलमपि कयाचित् पुरा दुर्दिनेषु,
येष्वेपासीत् कृशाङ्गी विरलजलयुता पर्वतैः पीड्यमाना ॥

सन्दर्भ—

नदी पर्वतों से नीचे उतर आई है। वह मैदान पर बड़े विशाल रूप में बह रही है। उसका अपार जल किनारों तक फैला है। पर्वतीय भूमि में बहने के समय नदी संकड़ी थी, पानी कम था, बीच-बीच में ऊँचे-नीचे

पहाड़ी खण्ड भी आते थे, तब उसमें नाव चलाने की सुविधा नहीं थी। अब मैदानी भूमि और प्रचुर जल होने से नौका दिन-रात नदी पर चलती है।

व्याख्या—

एक समय था—नदी का शरीर कृश था, उसमें पानी कम था, उसे पर्वत सताते थे। उन दिनों नौका ने नदी से कुशल-क्षेम भी नहीं पूछा। आज स्थिति बदल गई है। नदी में अपार पानी है। वह किनारों तक फैली है। वैभवशालिनी है, बलवती है। इस स्थिति में देख नौका दिन में तो उससे चिपटी रहती ही है, रात को भी उसका पीछा नहीं छोड़ती।

निष्कर्ष—

संसार बड़ा स्वार्थी है। विपत्ति में जो मुँह से बोलता तक नहीं। संपत्ति में वही व्यक्ति पीछा तक नहीं छोड़ता।

[84]

स्रोतःस्रस्तसमस्तनिर्मलजलैः स्नानास्पदं प्रापितः,
देवैरेव निपेव्यसेवशकलैराशु प्रसन्तर्पितः।
विस्तीर्णैस्तरुभिः स्वशीतलतले शष्पाश्रिते शायितः,
शालामारनिशातपुष्पविशिखैर्हा हन्यतेऽयं युवा॥

सन्दर्भ—

काश्मीर के प्रमुख शहर श्रीनगर में शालामार और निशात नामक दो प्रसिद्ध बगीचे हैं। वहाँ स्वच्छ जल के कृत्रिम झरने, मधुर सेव के फल, ठंडी छाया वाले विशाल वृक्ष, दूब से छाया भूमितल, ये सब बड़े आनन्द-प्रद हैं। एक नौजवान उन बगीचों में घूम रहा है। वह इनका सेवन कर आनन्दविभोर हो उठा है, विलासोन्मुख बन अपनी सुध-बुध खो बैठा है। यह स्थान की अति रमणीयता का असर है।

व्याख्या—

एक नौजवान घूमने को आया। बगीचों ने उसका बड़ा सम्मान किया। झरनों से झरते हुए निर्मल जल से उसे स्नान कराया। देवोपभोग्य मधुर सेव के फल खिलाकर

उसे तृप्त किया। विशाल वृक्षों की ठंडी छाया में दूब पर उसे सुलाया। पर आखिरकार शाला में अर्थात् काश्मीर-रूप घर में प्रवास करने वाले मार यानी कामदेव के निशात अर्थात् तीक्ष्ण पुष्प-रूप बाणों से उसे आक्रान्त करना शुरू किया।

शालामार और निशात शब्द का यहाँ द्व्यर्थक प्रयोग हुआ है। श्री नगर में स्थित शालामार और निशात नामक उद्यानों के द्योतक तो ये शब्द हैं ही, कामदेव और तीक्ष्ण के अर्थ में भी यह प्रयुक्त हुए हैं।

निष्कर्ष

वैषयिक सुखों का परिणाम विकार है, इसलिए कोई भी व्यक्ति अन्धा बन इनमें अपने को न मिटा दे।

[४५]

श्रेणीबद्धैः प्रणामैस्तरुणतरुकृतैः संस्कृतः सैन्यरूपै-
रन्तःशीतैर्विशेषैरुपवनपवनैर्ध्वस्तमूर्द्धश्रमाम्बुः।
संशुद्धे शष्पमध्ये विहरति रसिकः कोमले तूलतुल्ये,
गाढं गृह्णन् गृहिण्या वरकरकमलं कोऽपि शच्या इवेन्द्रः॥

सन्दर्भ—

एक नौजवान अपनी प्रेयसी का हाथ अपने हाथ में थामे उपवन की दूब से छाई परिष्कृत भूमि में घूम रहा है। वह भूमि रूई से भरे गद्दे की तरह कोमल है। शीतल वायु मन्द-मन्द बह रही है। उसके संस्पर्श से युवक के मुँह पर थकानवश आया पसीना सूख गया है। उपवन में तरुण वृक्ष लम्बी-लम्बी कतारों में सुसज्ज सैनिकों की तरह सुव्यवस्थित खड़े हैं। वायु के झोंकों से वे एक साथ हिल रहे हैं।

व्याख्या—

सैनिकों की तरह एक श्रेणी में खड़ी तरुण वृक्षों की पंक्ति वायु के झोंकों से एक साथ हिलने के मिष उस युवक को अभिवादन कर रही है, जो अपनी प्रेयसी के साथ रुई के गद्दे की तरह कोमल दूब पर घूम रहा है। उद्यान के शीतल वायु ने मानों पंखा झल उस युवक के मुँह पर जमी हुई पसीने की बूंदों को मिटा दिया। वह युवक ऐसा लगता है—मानो देवाधिराज इन्द्र इन्द्राणी शची का हाथ पकड़े घूम रहा हो।

निष्कर्ष—

प्राकृतिक उपकरणों से जो तृप्ति मिलती है, वह कृत्रिम साधनों में कहाँ ?

[४६]

कामः किं मर्तुकामः कुसुमविशिखवाँस्त्र्यम्बकैरप्यसंख्यै,
हैमन्तर्तुर्हिमार्षिं यदि न सुमनसां ध्वंसनायाकरिष्यत् ।
युक्तो वैज्ञानिकास्त्रैर्हठलहिटलरो जार्मनानां मनःस्थै—
र्ध्यःकिं स्टेलिनाद्यैर्यदि न जनमनः साम्यवादोऽहरिष्यत् ॥

सन्दर्भ—

काश्मीर में जब हेमन्त ऋतु आती है तो वहाँ शीत बहुत बढ़ जाता है और बर्फ बुरी तरह गिरने लगती है, जो आग की धधकती लपटों की तरह फूलों को जला डालती है। इससे कुसुमश्री का ह्रास होता है। प्रकृति की शोभा घटती है।

व्याख्या—

कामदेव के शस्त्र फूल हैं। यदि हेमन्त फूलों के ध्वंस के लिए बर्फ नहीं गिराता तो क्या असंख्य शिव भी कामदेव को मार पाते? उसके शस्त्र विद्यमान रहते तो भला वह कैसे मरता। फूल आदि सौन्दर्य के उपकरण ही वे साधन हैं, जो काम-भावना को सजग करते हैं। उनके रहते काम का अस्तित्व कैसे मिटता।

स्टेलिन आदि रूसी कर्णधारों ने जर्मनी से हिटलर की सत्ता को मिटाया। यह तभी संभव हुआ जबकि उन्होंने जर्मन-निवासियों के मन में साम्यवाद का समावेश करा दिया। यदि जर्मन-जनता में साम्यवादी भावना आन्तरिक-रूप से नहीं फैल पाती और इस तरह जीत की पूर्व-भूमिका तैयार नहीं होती तो यह कब संभव था कि हिटलर जो वैज्ञानिक शस्त्र-अस्त्रों से सज्जित था, जर्मनी के लोग जिसे जी-जान से चाहते थे, पराभव पाता। हिटलर का मुख्य अस्त्र था—जर्मनों के मन में उसके प्रति श्रद्धा। उसके स्थान पर साम्यवाद के प्रति जर्मनों में आन्तरिक निष्ठा पनपी, झट हिटलर के पराजय और विनाश की घड़ी आ गई।

निष्कर्ष—

किसी विकार को मिटाने के लिए यह आवश्यक होता है कि पहले उसके पोषक साधनों को मिटाया जावे।

[४०]

स्मित इव सुमैः शालामारो भवस्य पराभवाद्,
हसति तुहिनीभूतः शम्भुः प्रमथ्य च मन्मथम् ।
निजनिजजयहर्षादित्थं प्रकाशमुपेयुषो—
र्विजयमनयोः कस्य ब्रूमोऽथ कस्य पराजयम् ॥

सन्दर्भ—

शालामार उपवन फूलों से खिल रहा है। भगवान् अमरनाथ की बर्फमय मूर्ति[1] गुफा में शोभित है। बर्फ की अधिकता के कारण वहाँ फूल बिलकुल नहीं होते।

व्याख्या—

शालामार-उद्यान के रूप में शाला अर्थात् काश्मीर रूप घर में स्थित मार यानी कामदेव शिव के पराजय से— उनको गुफा में भगाकर पुष्पादि की शोभा से रहित बना कर विकसित श्वेत फूलों के मिष हँस रहा है। दूसरी ओर शिव कामदेव को भस्म कर तुषारमय श्वेत बनते हुए अपना हास प्रकट कर रहे हैं। इस प्रकार दोनों अपना-अपना विजयोल्लास प्रकट करते दिखाई देते हैं। दोनों में अब किसकी विजय कहें और किसकी पराजय ?

निष्कर्ष—

ऐकान्तिक निर्णय सही नहीं होता। सापेक्ष-दृष्टि से ही निचोड़ निकल पाता है और वहाँ जय-पराजय जैसे विपरीत धर्म भी समन्वित हो सकते हैं।

[४१]

यामां शरैरिव सुमैर्युधि रतीशो,
मल्लीलतासु किल तासु हरो न रक्तः ।
आश्रित्य धूर्ततरुमेव स तोषमेति,
नेच्छन्ति रम्यमपि वस्तु बुधा रिपूणाम् ॥

---

[1] अमरनाथ की मूर्ति बर्फ से स्वयं निष्पन्न होती है—यह वहाँ की विशेषता है।

सन्दर्भ—

एक ओर चमेली के फूल खिल रहे हैं, दूसरी ओर धत्तूरे का विषैला पौधा मादकता भरा लहलहा रहा है।

व्याख्या—

काश्मीर में चमेली के फूल प्रचुर मात्रा में होते हैं पर काश्मीर के अधिष्ठातृ-देवता अमरनाथ—शिव के वे नहीं चढ़ते।[१] चढ़ें कैसे? कामदेव जिन चमेली के फूलों को अपना सबल शस्त्र बना शिव से जूझा, वे शिव के लिए स्वीकार्य कैसे हो सकते हैं? शिव को तो अपने धत्तूरे से ही सन्तोष है। चमेली के फूल सुन्दर और सुरभित हुए तो क्या हुआ, हैं तो शत्रु के ही। समझदार के लिए शत्रु की रम्य वस्तु भी ग्राह्य नहीं होती।

[४९]

व्याप्नोति यर्हि सुषमा कुसुमायुधस्य,
सर्वस्थलान्यखिलं तुहिनाचलस्य।
श्रद्दध्महे कथमहेतुममुष्य मृत्युं,
नित्यं स जीवति हि जीवति यस्य कीर्तिः॥

व्याख्या—

लोग कहते हैं—कामदेव मारा गया पर यह कैसे मानें। ऐसा कोई कारण नहीं दीखता। उसकी सुषमा प्रकृति-सौन्दर्य के रूप में हिमालय के कोने-कोने में व्याप्त है। फिर उसे मरा हुआ मानें? जिसकी कीर्ति, सुषमा जीती है, वह मरकर भी सदा जीवित है।

[५०]

मार्गो विभाति कुटिलोऽमरनाथधाम्न,
इत्थं वदन्तु पुरुषाः कविकल्पने तु।
भूमेर्भुजङ्गगण एष महेशकण्ठे,
स्रष्टुं स्रजं व्रजति शश्वदनुक्रमात् स्वयम्॥

१ पौराणिक मान्यता के अनुसार शिव के चमेली का फूल नहीं चढ़ता।

व्याख्या—

लोग कहते हैं, अमरनाथ धाम को जाने वाला मार्ग टेढ़ा-मेढ़ा है। वे ऐसा कहें। पर कवि-कल्पना में तो कुछ और ही सूझ पड़ता है। ऐसा लगता है कि यह मार्ग नहीं है, यह तो पृथ्वीतल वासी उन सर्पों की श्रेणी है, जो भगवान अमरनाथ के गले में हार बनने की कामना से अपनी वक्र गति से निरन्तर चलते आ रहे हैं।

निष्कर्ष—

श्रद्धा एवं निष्ठा का आकर्षण सबसे बड़ा आकर्षण है।

[५१]

गौरत्वगौरवमुपैति जनोऽत्र सर्वो,
गौरीगुरुर्हिममयः स्वयमेव गौरः।
देशोऽनुसार्य इति दूरदृशा विचार्य,
देवोऽप्यजायत तुषारशरीरधारी ॥

सन्दर्भ—

शीत-प्रधान देश होने से काश्मीर के लोग गोरे रंग के है। हिमालय की चोटियाँ यहाँ बर्फ से ढकी है अतः यह भी गौर वर्ण का दीखता है। शिव की मूर्ति और सब जगह धातु या पत्थर की बनी होती है पर यही एक स्थान है, जहाँ वह बर्फ की बनी है, इसलिए वह भी गोरे रंग की है।

व्याख्या—

यहाँ के सब लोगों को गौर वर्ण पाने का गौरव प्राप्त है। पार्वती का पिता हिमालय भी यहाँ स्वयं गोरा है। भगवान् अमरनाथ ने देखा कि इस प्रदेश में सबके सब लोग गौर वर्ण के हैं, मुझे भी देश का अनुसरण करना चाहिए। यह सोच उन्होंने भी अपना शरीर बर्फ का बना डाला।

निष्कर्ष—

देश, काल, भाव व स्थिति को दृष्टि में रख कार्य करना चाहिए।

[५२]

यैर्माजितं मारजितं मनः स्वं,
तपोऽमृतेन, द्विपरक्तधौताः।

दंष्ट्रा यदीयास्व तदर्थमत्र,
द्वाराण्यरुद्धानि गिरेर्गुहानाम् ॥

सन्दर्भ—

पहाड़ों की गुफाओं में कहीं कहीं तपस्वी मुनि रहते हैं और कहीं हाथियों का शिकार करने वाले शेर।

व्याख्या—

यहाँ की पर्वत-गुफाओं के दरवाजे उन मुनियों के लिए खुले हैं, जिन्होंने अपने कामादि विकारों से ग्रस्त मन को तपस्या के अमृत से धो डाला है और उन सिंहों के लिए भी खुले हैं, जिनकी दाढ़ें हाथियों के रक्त से प्रक्षालित हैं।

[४३]

प्रायः फलानि विफलानि न यानि पुष्ट्यै,
तान्यत्र सन्ति रसनाय मनोहराणि।
माकन्द एव न यतः पिकवल्लभः स,
गौर्या गृहम्प्रति न पूज्यमगौरमित्रम्।

सन्दर्भ—

यहाँ प्रायः सब प्रकार के पौष्टिक फल पैदा होते हैं पर आम नहीं होता।

व्याख्या—

वे सब अच्छे-अच्छे फल जो पुष्टि देने में निष्फल नहीं हैं, यहाँ खाने को मिलते हैं। एक आम ही ऐसा फल है, जो यहाँ पैदा नहीं होता। यह (हिमालय, जिस पर काश्मीर बसा है) गौरी का—पार्वती का अथवा गौरवर्णवाली का घर है, आम ठहरा कोकिल का मित्र जो काली है। काली-कलूटी का मित्र गौरी के घर सम्मान पाने का कैसे अधिकारी हो सकता है?

निष्कर्ष—

अधम की मैत्री से उत्तम भी अपने सम्मानपूर्ण अधिकार से वंचित रहता है।

[५४]

स्वाम्भोद भूरिभृतपादपपंक्तिसूच्या,
यद् वेध्यते निखिल पर्वतपर्वपर्व ।
तच्छेदितेऽप्यशनिना प्रतिपक्षिपक्षे,
शक्रस्य वक्ररूप एष परः प्रहारः ॥

सन्दर्भ—

पहाड़ों की इस पर्वतीय भूमि में वृष्टि अधिक होती है। इससे वृक्ष बहुत उगे हुए हैं। पर्वत का प्रत्येक भाग उनसे ढका है।

व्याख्या—

एक बार देवराज इन्द्र पर्वतों को अपना शत्रु समझ उन पर बहुत कुपित हुआ। उनके पंखों पर वज्र से प्रहार किया और उन्हें काट डाला। देवराज का क्रोध शान्त नहीं हुआ। तब उसके द्वारा प्रेरित उसके आज्ञानुवर्ती अनुचर मेघों ने पादप-पंक्ति को प्रचुर जल से सींचा, पाला और पोसा। पादप-पंक्ति रूपी सुई से पर्वत का मर्म-मर्म उन्होंने बींध डाला। अब कवि-कल्पना में ये वृक्ष नहीं हैं। इन्द्र ने भीषण कोपवश पर्वतों पर जो दूसरी चोट की, उसके परिचायक पर्वत के मर्म-छेद हैं।

निष्कर्ष—

क्रोध का अतिशय हिंसा जैसी नीच वृत्तियों को उभार देता है।

[५५]

प्रविशति शिखरिनितम्बे,
विषमदशायामुपस्थितो मार्गः।
परिखात उन्मुखात—
स्रस्तस्त्यागीव मायातः ॥

सन्दर्भ—

पहाड़ी मार्ग ऊंचा-नीचा और टेढ़ा-मेढ़ा है। वह चौड़े मुंह वाले खोहों-खाइयों के पास होता हुआ पर्वत के मध्य भाग में उतरता है।

व्याख्या—

संसार के माया-मोह से डरकर त्यागी जैसे तप-साधना के लिए पर्वत के बीच चला जाता है, वैसे ही यह विषम मार्ग मुँह बाये पड़ी खाई से भयभीत और अस्त-व्यस्त होकर पर्वत के मध्यभाग में जा रहा है।

निष्कर्ष—

नुकसानदेह चीजों से मेलजोल न कर उनसे दूर रहना चाहिए।

व्याख्या—

[५६]

ऊर्ध्वस्थोऽधःस्थो वा,
बहुधान्यो वा क्षणादकिञ्चनकः ।
दृश्यस्तथेत्यदृश्यः,
पन्था भात्यक्षदेवीव ॥

सन्दर्भ—

मार्ग कभी ऊँची भूमि पर होता हुआ जाता है, कभी नीची पर। कभी धान्य से भरे-पूरे खेतों में से और कभी खाली भूमि में से यह निकलता है। कभी (ऊंचे स्थानों से होकर जाता हुआ) यह दिखाई देता है और कभी (नीचे स्थानों से होकर जाता हुआ पहाड़ी श्रेणियों की आड़ में आ जाने पर) नहीं।

व्याख्या—

यह मार्ग एक जुआरी की तरह नाना दशा और आकार-प्रकार में होता हुआ गुजरता है। जुआरी जब जीत जाता है तो ऊँचा—उन्नत-दशा में होता है, जब वह हार जाता है तो नीचा—अवनत-दशा में होता है वैसे ही यह मार्ग भी कभी ऊँचाई पर से होता हुआ गुजरता है और कभी नीचाई पर से। विजयी जुआरी प्रचुर धान्य आदि से घिरा रहता है और पराजित होने पर वही अकिंचन बन जाता है। वैसे ही मार्ग कभी धान्य से भरे-पूरे खेतों में से जाता है और कभी ऊसर भूमि में से। जुआरी कभी तो प्रकट रूप में घूमता रहता है और कभी पकड़े जाने के भय से अदृश्य रहता है। मार्ग भी ऊँचे-नीचे

स्थानों में होते हुए जाने के कारण, गुफाओं के भीतर होकर जाना है तब तो दीखता नहीं—अदृश्य हो जाता है और आड़ में नहीं होता तब साफ दिखाई देता है।

निष्कर्ष—

जुए जैसे व्यसन में नहीं पड़ना चाहिए। यह जीवन को अस्त-व्यस्त और विशृंखलित बनाता है।

[५७]

आर्यावृतमिति मार्ग,
मंस्कृतवन्तो निरर्गला मुगलाः।
पश्चात्तमेव गौराः,
प्राचीनः पूज्यते कैर्न ॥

व्याख्या

काश्मीर को जाने वाला मार्ग प्राचीन मार्ग है। यह आर्यों का बनाया हुआ है—यह सोच पराक्रमी मुगल बादशाहों ने इसका जीर्णोद्धार कराया ब्रिटिश-शासन-काल में अंग्रेजों ने इसकी मरम्मत कराई। प्राचीन वस्तु को कौन नहीं पूजता? सभी उसका मान करते हैं।

निष्कर्ष—

सार्वजनिक चीज चाहे किसी की भी बनाई हुई हो, उसका संरक्षण करना सबका कर्त्तव्य है।

[५८]

समदर्शीव मनस्वी,
न स्वीकुरुते विभिन्नतामध्वा।
धनिनिर्धनद्विजान्त्यज—
सममत्कारं वितन्वानः ॥

सन्दर्भ—

धनी-निर्धन, ब्राह्मण-अछूत सब इस मार्ग पर होते हुए जा रहे हैं।

व्याख्या—

मनस्वी पुरुष की तरह यह मार्ग समदर्शी है। किसी भी तरह का भेद-भाव यह नहीं मानता। क्या धनी, क्या निर्धन, क्या ब्राह्मण और क्या अछूत सब का यह समान सम्मान देता है। सब इस पर से जाते हैं, यह किसी को भी नहीं रोकता।

निष्कर्ष—

मानवता के नाते सब मानव समान हैं। धनी-निर्धन, ब्राह्मण-हरिजन का प्रश्न पैदा कर उनमें ऊँच-नीच की भेद-रेखा खींचना कभी उचित नहीं। जैसे कि अन्यत्र कहीं-कहीं राजपथ अलग और साधारण जन-पथ अलग तथा ब्राह्मणों के अलग और अछूतों के अलग सुविधानुसार मार्ग होते हैं। वैसे यहाँ पर्वतीय भूमि में स्वाभाविक तथा विषम-स्थल के कारण कैसे हो सकते हैं जब कि एक प्रकार के ही मार्ग का बनना अति दुष्कर है।

[५९]

स्खलितोऽपि मेखलातो,
भवति त्रातो द्रुशाखया पथिकः।
स्खलितेव मेखलातः,
करेण शाटी त्रपावत्याः॥

सन्दर्भ—

पहाड़ी श्रेणियों पर वृक्षों का ऐसा सघन झुरमुट है कि पर्वत के बीच से कोई राहगीर गिर पड़े तो वह नीचे जमीन पर न गिर वृक्षों की शाखाओं में अटक जाता है।

व्याख्या—

पर्वत की मेखला से स्खलित होकर कोई पथिक नीचे गिरने लगे तो वृक्ष की शाखा उसे बचा लेती है, नीचे नहीं गिरने देती। जैसे लज्जावती नारी की साड़ी को कमर से नीचे खिसकते देख उसका हाथ उसे रोक लेता है।

निष्कर्ष

महान् और उदार व्यक्ति अपने आश्रितों को पतन-मार्ग से बचा लेने के लिए हरदम जागरूक रहते हैं।

[६०]

अश्वाश्रितानपि महाधनिनो मनुष्यान्,
पद्भ्यां पदातिभिरमाऽधिगमय्य निस्वैः ।
व्याप्तस्थिरस्थपुटसंपुटपिस्सुघाटी,
साम्यं प्रचारयति रूसरुषो विभीता ॥

सन्दर्भ—

पहल गाँव से अमरनाथ को जाते समय बीच में पिस्सु घाटी नामक एक मार्ग आता है। वह इतना संकरा, ऊँचा-नीचा और ऊबड़-खाबड़ है कि यहाँ सब को पैदल चलना होता है। घोड़ों पर चलने वाले धनी भी निर्धनों के साथ पैदल चलते हैं।

व्याख्या—

पिस्सु घाटी समतल नहीं है। वह संकरी, ऊँची-नीची, टेढ़ी-मेढ़ी और ऊबड़-खाबड़ अर्थात् विषम है। यद्यपि वह स्वयं सम-साम्ययुक्त नहीं है पर रूस की पार्श्ववर्ती होने से उसके रोष से डरती हुई साम्यवाद का प्रचार कर रही है। यही तो कारण है कि यह अपने पर चलने वाले राहगीरों को भी साम्य के पथ पर लाती है। जो पैसे वाले लोग घोड़ों की सवारी पर चलते हैं, उन्हें नीचे उतरवा कर पैदलों के साथ चलाती है।

निष्कर्ष—

आसपास के वातावरण के प्रभाव से बचना कठिन है। चाहे अनचाहे कभी-न-कभी उसका असर होता ही है।

[६१]

विषमविषयवासी साम्यभाषी मनुष्यो,
मणिरिव फणिजातः श्लाघनीयो हिमाद्रौ ।
तदिति न मम रुच्यं भारतीयो दयार्द्रो,
रुचयति परपुंसां मारके मार्क्सवादे ॥

सन्दर्भ—

रूस के पड़ोस में बसे होने से यहाँ के लोगों में साम्यवाद की चर्चा का

एक विषय रहता है। पर हिंसा-प्रधान साम्यवाद भारत के लिए शोभास्पद नहीं।

व्याख्या

साँप विषात्मक अन्धकार से भरा होता है, उससे प्रकाश-पुंज मणि पैदा होती है— यह प्रशंसा की चीज है। यहाँ विषम—ऊँचे-नीचे देश का वासी मनुष्य साम्यवाद की चर्चा करता है। वैषम्य में रहना और साम्य की बातें करना—यह एक विचित्रता मिश्रित प्रशंसा की बात है। पर अहिंसा-प्रधान भारतीयों को हिंसा-प्रधान साम्यवाद रुचिकर हो—यह मुझे अच्छा नहीं लगता। (शुद्ध अहिंसा-प्रधान साम्यवाद तो हमको भी प्रिय है) आज का साम्यवाद तो अपने दल के अतिरिक्त दूसरों की हिंसा में विश्वास करता है, जो भारतीय परम्परा के सर्वथा प्रतिकूल है।

निष्कर्ष—

भारतीयों को अहिंसा की महत्त्वपूर्ण विरासत मिली है। वे हिंसा-प्रधान सिद्धान्तों पर कैसे निष्ठा रख सकते हैं?

[६२]

व्यर्थं वर्षन् ससलिलतलेऽप्यम्बुराशिं गिरीणां,
तन्द्रामिन्द्रस्त्यजति न मरौ विन्दुदानेऽप्यपांयः।
दुःखीकुर्वंस्तृषितपुरुषांस्तर्पयन्नेव तृप्तान्,
स स्वःस्वर्गेऽप्यभिलषति किं साम्यवादप्रवेशम्॥

सन्दर्भ—

पर्वतों की तलहटियाँ पानी से भरी हैं, फिर भी वहाँ प्रचुर वृष्टि हो रही है।

व्याख्या—

एक ओर इन्द्र पहाड़ों की जल भरी तलहटियों में जलराशि वृथा बरसा रहा है, दूसरी ओर मरुभूमि में जहाँ वर्षा के बिना लोग दुःखी हैं, जल की एक बून्द भी नहीं गिराता। इस तरह वह प्यासे लोगों को दुःखित और तृप्तों को पुनः तृप्त करने का उपक्रम कर रहा है। वस्तु-वितरण में ऐसा पक्षपात कर क्या वह स्वर्ग में भी साम्यवाद को बुलाना चाहता है?

निष्कर्ष—

उचित वितरण होने तथा जरूरत-मन्दों की जरूरियात के सही रूप में पूरा होने से ही साम्यवाद का खतरा टल सकता है।

[६३]

नव्यैर्भव्यैः सुरभितसुमैरिष्टमिष्टैः फलाद्यै—
रन्योन्येषामिह महिरुहः प्रेक्ष्य पूर्णोन्नतत्वम्।
हर्षाश्रूणां हिमकणमिषैः स्नातवन्तः पृषद्भि—
र्मुक्तामत्योपरिकृतकरान् मोहयन्त्येव पान्थान्॥

सन्दर्भ—

यहाँ वृक्ष बड़ी विकसित दशा में है। उनके नये-नये सुन्दर सुगंधित फूल लगे है। मीठे और स्वादिष्ट फल लगे हैं। प्रातः मोती की तरह दीखने वाली ओस की बूंदों से उनकी पत्तियाँ ढकी रहती है।

व्याख्या—

वृक्षों ने आपस में एक दूसरे को देखा—सब अभिनव, भव्य और सुरभित पुष्पों से लदे हैं, सबके मधुर और प्रिय फल लगे हैं। एक दूसरे की उन्नति देख वृक्ष हर्ष से फूले नहीं समाये। ओस की बूंदों के मिष वे खुशी के आँसुओं से नहा गये—उनका शरीर उनसे (अश्रुकणों से) लथपथ हो गया। मार्ग से जाते हुए राहगीरों को ओस की बूँदों में मोती का भ्रम हुआ और वे उन्हें लेने के लिए अपने हाथ ऊपर उठाने लगे।

निष्कर्ष—

अपने साथियों को उन्नत देख सबको प्रसन्न होना चाहिए। लोगों की दृष्टि में इसका बड़ा मूल्य आंका जाता है।

[६४]

के के यूयं वयमिति तथा के कुत्र जातौ च जाता,
नेमान् प्रश्नान् क्वचन तरवः कुर्वते संघमध्ये।
सद्यः सख्यं विदधति मिथः प्रेरिताः प्रेमवातै—
रेकैकेषामभिमुखगतान् पर्णपाणीन् गृहीत्वा॥

सन्दर्भ—

भिन्न-भिन्न जाति और किस्म के वृक्षों की कतारें की कतारें खड़ी हैं। वायु चल रही है। वृक्षों के पत्ते आपस में मिलते हैं, एक दूसरे का छूते हैं।

व्याख्या—

"हम कौन हैं, तुम कौन हो, कहाँ और किस जाति में जन्मे हो"—वृक्ष अपने समूह में इस प्रकार के प्रश्न आपस में नहीं करते। प्रेम की वायु से प्रेरित हो परस्पर एक दूसरे से अपना पर्णरूपी हाथ मिला वे मैत्री के दृढ़ सूत्र में बँधजाते हैं।

निष्कर्ष—

जाति, वर्ग व वर्ण-भेद अतात्त्विक है। फिर आपसी मैत्री और प्रेम में ये बाधक क्यों बनें?

[६५]

एकस्थाले गिरितलकृते भूरुहां सर्वसंघो,
मात्रापूर्वं पिबति मधुरं क्षीरमम्भोददत्तम्।
अस्पृश्यस्था घुण इव घृणा बाधते तं न किञ्चि—
दुच्चा नीचा धवलशबलास्तत्र सर्वे समानाः॥

सन्दर्भ—

पर्वत की तलहटी बादलों से बरसे पानी से भरी पड़ी है। छोटे-बड़े, सफेद तथा विविध प्रकार के वृक्ष जलमें स्थित हैं। जिनको जितना अपेक्षित है, उतना-उतना जल वे सोख रहे हैं।

व्याख्या—

पहाड़ की तलहटी एक थाल है। बादलों के दिये मीठे जल से वह भरा है। वृक्षों का समूह जितना चाहता है, जल पीता जा रहा है। उन वृक्षों को छुआ-छूत की घृणा घुण (वृक्षों के नाश) करने वाले कीड़े की तरह बाधा नहीं देती। ऊँचे, नीचे, सफेद तथा अन्य रंगों वाले सभी वहाँ एक समान हैं, उनमें परस्पर भेद-भाव नहीं।

निष्कर्ष—

लोगों का भला तभी होगा, जब कि वे ऊँच-नीच, छुआ-छूत व काले-गोरे के भेद को मिटा आपस में प्रेम और एकता से रहेंगे।

निष्कर्ष—

उचित वितरण होने तथा जरूरत-मन्दों की जरूरियात के सही रूप में पूरा होने से ही साम्यवाद का खतरा टल सकता है।

[६३]

नव्यैर्भव्यैः सुरभितसुमैरिष्टमिष्टैः फलाद्यै—
रन्योन्येषामिह महिरुहः प्रेक्ष्य पूर्णोन्नतत्वम्।
हर्षाश्रूणां हिमकणमिषैः स्नातवन्तः पृषद्भि—
र्मुक्तामन्योपरिकृतकरान् मोहयन्त्येव पान्थान् ॥

सन्दर्भ—

यहाँ वृक्ष बड़ी विकसित दशा में है। उनके नये-नये सुन्दर सुगंधित फूल लगे हैं। मीठे और स्वादिष्ट फल लगे हैं। प्रातः मोती की तरह दीखने वाली ओस की बूंदों से उनकी पत्तियाँ ढकी रहती हैं।

व्याख्या—

वृक्षों ने आपस में एक दूसरे को देखा—सब अभिनव, भव्य और सुरभित पुष्पों से लदे हैं, सबके मधुर और प्रिय फल लगे हैं। एक दूसरे की उन्नति देख वृक्ष हर्ष से फूले नहीं समाये। ओस की बूंदों के मिष वे खुशी के आँसुओं से नहा गये—उनका शरीर उनसे (अश्रुकणों से) लथपथ हो गया। मार्ग में जाते हुए राहगीरों को ओस की बूंदों में मोती का भ्रम हुआ और वे उन्हें लेने के लिए अपने हाथ ऊपर उठाने लगे।

निष्कर्ष—

अपने साथियों को उन्नत देख सबको प्रसन्न होना चाहिए। लोगों की दृष्टि में इसका बड़ा मूल्य आँका जाता है।

[६४]

के के यूयं वयमिति तथा के क्व जातौ च जाता,
नेमान् अस्मान् क्वचन तरवः कुर्वते संघमध्ये।
सद्यः सख्यं विदधति मिथः प्रेरिताः प्रेमपाशै—
रेकैकेषामभिमुखगतान् पर्णपाणीन् गृहीत्वा ॥

सन्दर्भ—

भिन्न-भिन्न जाति और किस्म के वृक्षों की कतारें की कतारें खड़ी हैं। वायु चल रही है। वृक्षों के पत्ते आपस में मिलते हैं, एक दूसरे को छूते हैं।

व्याख्या—

"हम कौन हैं, तुम कौन हो, कहाँ और किस जाति में जन्मे हो"—वृक्ष अपने समूह में इस प्रकार के प्रश्न आपस में नहीं करते। प्रेम की वायु से प्रेरित हो परस्पर एक दूसरे से अपना पर्णरूपी हाथ मिला वे मैत्री के दृढ़ सूत्र में बँधजाते हैं।

निष्कर्ष—

जाति, वर्ग व वर्ण-भेद अतात्त्विक है। फिर आपसी मैत्री और प्रेम में ये बाधक क्यों बनें ?

[६५]

एकस्थाले गिरितलकृते भूरुहां सर्वसंघो,
मात्रापूर्वं पिबति मधुरं क्षीरमम्भोददत्तम्।
अस्पृश्यस्था घुण इव घृणा बाधते तं न किञ्चि—
दुच्चा नीचा धवलशबलास्तत्र सर्वे समानाः ॥

सन्दर्भ—

पर्वत की तलहटी बादलों से बरसे पानी से भरी पड़ी है। छोटे-बड़े, सफेद तथा विविध प्रकार के वृक्ष जलमें स्थित हैं। जिनको जितना अपेक्षित है, उतना-उतना जल वे सोख रहे हैं।

व्याख्या—

पहाड़ की तलहटी एक थाल है। बादलों के दिये मीठे जल से वह भरा है। वृक्षों का समूह जितना चाहता है, जल पीता जा रहा है। उन वृक्षों को छुआ-छूत की घृणा घुण (वृक्षों के नाश) करने वाले कीड़े की तरह बाधा नहीं देती। ऊँचे, नीचे, सफेद तथा अन्य रंगों वाले सभी यहाँ एक समान हैं, उनमें परस्पर भेद-भाव नहीं।

निष्कर्ष—

लोगों का भला तभी होगा, जब कि वे ऊँच-नीच, छुआ-छूत व काले-गोरे के भेद को मिटा आपस में प्रेम और एकता से रहेंगे।

[६६]

को जातो महिमा हिमस्य विहिते शुष्कानने कानने,
को दोषः करुणाभृतो जलभृतः क्षिप्ते वने जीवने।
गौराणां किमु गौरवं कतिपये क्षुद्व्याकुले पुंस्कुले,
गान्धेः कोऽवगुणःस्वशासनविधेः प्राप्तं जने भोजने॥

सन्दर्भ—

तुषारपात से वन जलकर सूख गया। तुषारपात की ऋतु बीती, वर्षा आई, वन में फिर से जीवन लहलहाने लगा।

व्याख्या—

यदि बर्फ ने वन को सुखा डाला तो इसमें इसका क्या महत्त्व? यह तो शक्ति का दुरुपयोग है। यदि दयार्द्र बादलों ने जल-वृष्टि कर वन में जीवन का संचार कर दिया तो उन्होंने क्या बुरा किया? दुःख में पड़े को सहयोग ही तो दिया, जो हर सामाजिक भाई को देना चाहिए। यदि अँग्रेजों ने अपने शासन-काल में नर-समुदाय को भूखों[1] मारा तो इसमें उनका क्या बड़ापन था? यह तो ओछेपन का ही काम था। महात्मा गाँधी ने राष्ट्र को स्वराज्य दिलाया, जन-जन को रोटी मिल सके ऐसी व्यवस्था की तो कौन-सा बुरा काम किया? यह तो वही कार्य था, जो लोगों के लिए काम्य था।

निष्कर्ष—

बुरा अथवा अच्छा काम चाहे कोई करे, बुरा बुरा ही रहेगा और अच्छा अच्छा ही।

[६७]

येषां पुष्पैः ससुरभिरभूद् गन्धवन्ध्योऽपिवायु–
स्तेषां सोऽयं बत वितनुते पत्रिणामङ्गभङ्गम्।
नाप्येतस्माद् विरमति कृतात् किन्तु तत्पालकानां,
पाथोदानामपि घटयति द्राग् विनाशं कृतघ्नः॥

---

१ बंगाल के सन् १९४४ के अकाल में ३० लाख नर-नारी मौत के मुँह में पहुँचे।

सन्दर्भ—

वायु अत्यन्त वेग से चल रही है। जिससे वृक्षों की शाखाएँ और टहनियाँ टूट रही हैं। आकाश में छाये बादल भी खण्ड-खण्ड हो रहे हैं।

व्याख्या—

वायु स्वयं गंधरहित है। उसने वृक्षों के सुरभित फूलों से सुगन्धि पाई। आज उन्हीं वृक्षों के अंगों को वह तोड़ रही है—कितने खेद की बात है। उनकी कृतघ्नता इतने तक ही नहीं रुकती। वह वृक्षों को पोषण देने वाले बादलों को भी शीघ्रता के साथ विध्वस्त कर रही है ताकि वृक्ष आगे भी पनप न सकें।

निष्कर्ष—

कृतघ्न व्यक्ति के ओछेपन और नीचता की कोई सीमा नहीं। उपकारी के साथ-साथ उसके सहयोगियों को भी मिटाने की वह चेष्टा करता है। वास्तव में कृतघ्नता एक भयानक अभिशाप है।

[८८]

केकाः के काः श्रवणसुखदा नेति शृण्वन्ति लोका—
श्चित्रं नृत्तं नयनरुचिरं दृश्यते नेति कैश्च।
कुर्वन्त्येतद् जलदनिवहाद्याचयमात् मयूरा,
हो दारुणां हृदि मलिनता याचकैः प्रेक्ष्यते न॥

सन्दर्भ—

आकाश में कजरारे बादल मंडरा रहे हैं। मयूर उनकी ओर देख-देख कलापूर्ण नृत्य कर रहे हैं और कानों को प्रिय लगने वाली केका अलाप रहे हैं।

व्याख्या—

मोर बोल रहे हैं, नाच रहे हैं। कानों को प्यारी लगने वाली उनकी बोली किसे नहीं सुहाती। उनका नाच जो देखने वाले की आँखों को मोहे जा रहा है, किसको पसंद नहीं। सभी सुनते और देखते हैं। ये इतने ऊँचे कलापूर्ण कृत्य और इन्हें करने का उद्देश्य कितना नीचा—बादलों से जल की याचना करना। कैसी विडम्बना है। ठीक ही है—याचक दाताओं के मन के मैलेपन को नहीं देखते। वे केवल अपना स्वार्थ पूरा करना चाहते हैं।

[६६]

को जातो महिमा हिमस्य विहिते शुष्कानने कानने,
को दोषः करुणाभृतो जलभृतः क्षिप्ते वने जीवने।
गौराणां किमु गौरवं कतिपये क्षुद्व्याकुले पुंस्कुले,
गान्धेः कोऽवगुणःस्वशासनविधेः प्राप्ते जने भोजने ॥

सन्दर्भ—

तुषारपात से वन जलकर सूख गया। तुषारपात की ऋतु बीती, वर्षा आई, वन में फिर से जीवन लहलहाने लगा।

व्याख्या—

यदि बर्फ ने वन को सुखा डाला तो इसमें इसका क्या महत्त्व? यह तो शक्ति का दुरुपयोग है। यदि दयार्द्र बादलों ने जल-वृष्टि कर वन में जीवन का संचार कर दिया तो उन्होंने क्या बुरा किया? दुःख में पड़े को सहयोग ही तो दिया, जो हर सामाजिक भाई को देना चाहिए। यदि अँग्रेजों ने अपने शासन-काल में नर-समुदाय को भूखों[1] मारा तो इसमें उनका क्या बड़ापन था? यह तो ओछेपन का ही काम था। महात्मा गाँधी ने राष्ट्र को स्वराज्य दिलाया, जन-जन को रोटी मिल सके ऐसी व्यवस्था की तो कौन-सा बुरा काम किया? यह तो वही कार्य था, जो लोगों के लिए काम्य था।

निष्कर्ष—

बुरा अथवा अच्छा काम चाहे कोई करे, बुरा बुरा ही रहेगा और अच्छा अच्छा ही।

[६७]

येषां पुष्पैः ससुरभिरभूद् गन्धवन्ध्योऽपिवायु-
स्तेषां सोऽयं नव वितनुते पत्रिणामङ्गभङ्गम्।
नाप्येतस्माद् विरमति कृतात् किन्तु तत्पालकानां,
पाथोदानामपि घटयति द्राग् विनाशं कृतघ्नः ॥

१ बंगाल के सन् १९४४ के अकाल में ३० लाख नर-नारी मौत के मुँह में पहुँचे।

सन्दर्भ—

वायु अत्यन्त वेग से चल रही है। जिससे वृक्षों की शाखाएँ और टहनियाँ टूट रही हैं। आकाश में छाये बादल भी खण्ड-खण्ड हो रहे हैं।

व्याख्या—

वायु स्वयं गंधरहित है। उसने वृक्षों के सुरभित फूलों से सुगन्धि पाई। आज उन्हीं वृक्षों के अंगों को वह तोड़ रही है—कितने खेद की बात है। उनकी कृतघ्नता इतने तक ही नहीं रुकती। वह वृक्षों को पोषण देने वाले बादलों को भी शीघ्रता के साथ विध्वस्त कर रही है ताकि वृक्ष आगे भी पनप न सकें।

निष्कर्ष—

कृतघ्न व्यक्ति के दुरेपन और नीचता की कोई सीमा नहीं। उपकारी के साथ-साथ उसके सहयोगियों को भी मिटाने की वह चेष्टा करता है। वास्तव में कृतघ्नता एक भयानक अभिशाप है।

[६८]

केकाः के काः श्रवणसुखदा नेति शृण्वन्ति लोका—
श्चित्रं नृत्तं नयनरुचिरं दृश्यते नेति कैश्च।
कुर्वन्त्येतद् जलदनिवहात्तोयमासु मयूरा,
हो दातृणां हृदि मलिनता याचकैः प्रेक्ष्यते न॥

सन्दर्भ—

आकाश में कजरारे बादल मंडरा रहे हैं। मयूर उनकी ओर देख-देख कलापूर्ण नृत्य कर रहे हैं और कानों को प्रिय लगने वाली केका अलाप रहे हैं।

व्याख्या—

मोर बोल रहे हैं, नाच रहे हैं। कानों को प्यारी लगने वाली उनकी बोली किसे नहीं सुहाती। उनका नांच जो देखने वाले की आँखों को मोहे जा रहा है, किसको पसंद नहीं। सभी सुनते और देखते हैं। ये इतने ऊँचे कलापूर्ण कृत्य और इन्हें करने का उद्देश्य कितना नीचा—बादलों से जल की याचना करना! कैसी विडम्बना है! ठीक ही है—याचक दाताओं के मन के मैलेपन को नहीं देखते। वे केवल अपना स्वार्थ पूरा करना चाहते हैं।

निष्कर्ष—

स्वार्थ व्यक्ति को उचित-अनुचित नहीं देखने देता, अन्या—विवेक-शून्य बना देता है।

[६९]

भक्ष्यं वृक्षे सरिति सलिलं गेहमेवं गुहासु,
वस्त्रं रोम्णामपि, शयनं तल्पकल्पोपलेषु।
तत्तत् सर्वं सुखमिह कवे ! त्वं कथं भूमिमेषि,
स्थित्वैकान्ते विलिख कवितां भूर्जपत्रे पवित्रे ॥

व्याख्या—

कलाकार ! तू इस पहाड़ी देश को छोड़ पृथ्वी पर क्यों जाना चाहता है ? देख, यहाँ तुम्हें वृक्ष फलों का भोजन देंगे, नदी का मीठा पानी तुम्हें पीने को मिलेगा। गुफाओं के बने बनाये घर तुम्हारे रहने के लिए यहाँ विद्यमान हैं। कपड़ों के लिए भेड़ों के बाल पाओगे। सोने के लिए पलंग के समान विस्तृत शिलाएँ यहाँ हैं। कवि ! तेरी ये सब जरूरतें यहाँ सुख से पूरी होंगी। मेरा कहा मान—एकान्त में आसन जमा कर और पवित्र भोजपत्र पर कविता लिखता रह।

निष्कर्ष—

कलाकार, समाज के लिए सुन्दर कला की सृष्टि कर सके, इसके लिए यह जरूरी है कि उसको 'तेल-नोन लकड़ी' की समस्या से मुक्त किया जाय।

[७०]

कवीनां वीनां वा सरसवचसां पानविषये,
न ते यहिं श्रद्धा स्फुरति हृदयं मा पिब तदा।
दुरुक्तैर्बाणैर्वा क्षतयसि कथं कापुरुष ! ता—
ननर्घं घोषद्भिर्वद किमपराद्धं जगति तैः ॥

व्याख्या—

निष्ठुर मानव ! यदि तुझे कवियों और पक्षियों की सरस वाणी सुनना अच्छा नहीं लगता तो मत सुन। पर कवियों को कटु उक्तियों से और पक्षियों को बाणों से तू घायल

तो मत कर। वे अपनी गुन-गुनाहट से उस ऊँची कला की सृष्टि करते हैं, जिसका कोई मूल्य नहीं आंका जा सकता। उन्होंने तेरा क्या अपराध किया—बता तो सही।

निष्कर्ष—

अनर्थ-हिंसा और निन्दा से हर बुद्धिमान को बचते रहना चाहिए।

[७१]

तोयं पेयं सजलसरितां कूपखानं विनैव,
भोज्यं योज्यं कृषिकृतिमृते कन्दमूलैः फलैर्वा।
अप्युत्पन्नं गृहमिह गुहा नेति सर्वं पृथिव्यां,
मत्वेत्यस्याः शिरसि पतितः पर्वतो गर्वतोऽयम्॥

व्याख्या—

पर्वत ने देखा—पृथ्वी पर लोग पानी पीने के निमित्त कुएँ खोदते हैं, मुझे तो ऐसा करने की आवश्यकता नहीं, जल से भरी-पूरी नदियाँ जो हैं। पृथ्वी पर लोगों को खाद्य-पदार्थ पैदा करने के लिए खेती करनी होती है पर यहाँ तो कन्द-मूल और फल बहुतायत से मिलते हैं। खेती की क्या अपेक्षा? पृथ्वी पर घर बनाने के लिए लोग बड़ा श्रम करते हैं और मेरे तो गुफाओं के बने-बनाये घर तैयार हैं। यों अपने वैभव के सम्बन्ध में सोच पर्वत गर्व से फूल गया और वह पृथ्वी के शिर पर जा बैठा।

यहाँ के पर्वत इतने ऊँचे क्यों हैं, इसका सुन्दर एवं आलंकारिक समाधान इस पद्य में है।

निष्कर्ष—

जिनको बिना श्रम के सुविधाएँ मिल जाती हैं, वे झट अभिमान करने लगते हैं।

[७२]

प्राप्तं हिमाचलतलं पुरुषेण येन,
तप्तं महीगृहमुपेत्य स नैति तोषम्।
अर्कस्य किं किसलयं कुशलीकरोति,
राजीवराजिनवपल्लववल्लमालिम्॥

व्याख्या

जो व्यक्ति शीतल और शान्त हिमाद्रितल पर (वहाँ बसे काश्मीर में आ गया, फिर नीचे की मैदानी भूमि पर अवस्थित गर्म स्थानों में उसे तृप्ति नहीं मिलती। जो भौंरा कमल के नये-नये पत्तो का रसिक है, उसे आक के पत्ते से सन्तोष मिल जाय—यह कब सम्भव है।

[७३]

काश्मीरजांसि निजरजांसि मनोहराणि,
प्रेमोत्सवेन ददतोमिह गन्धवाहः।
शिष्यो निजं गुरुमिव व्यधित प्रसिद्धां,
दिङ्मण्डले सुरभितां सुरभिक्षणीयाम्॥

सन्दर्भ—

केसर की लहलहाती मनोहर क्यारियों पर भीनी-भीनी हवा चल रही है। केसर के रजकण उसमे मिलते जा रहे हैं। जहाँ-जहाँ हवा का संचार हो रहा है, वे स्थान सुरभिमय बनते जा रहे हैं।

व्याख्या—

केसर अपने रजकण प्रेम से वायु को देने लगी। वायु ने उन्हें आत्मसात् किया और उस केसर को जिसकी देवता भी कामना करते हैं, जो अनुपम सौरभ से परिपूर्ण है, दिङ्मण्डल में प्रसिद्ध बना दिया, जैसे योग्य शिष्य अपने गुरु को बना देता है।

निष्कर्ष—

गुणवान् भी साधक के ही योग से प्रसार पाता है।

[७४]

काचिल्ललाटपटले ललना विलिख्य,
किञ्जल्ककल्कतिलकं विकलाऽलकासे।
विद्युद्द्युतिं हरति काञ्चन काञ्चनाङ्गे—
गर्जद्घनान्निपतितां गृहगानमग्ना॥

व्याख्या—

एक सुन्दर नारी अपने घर में गीत गा रही है। उसके बाल उसके मुँह पर चारों ओर बिखरे हैं। अपने ललाट पर उसने केसर का तिलक लगा रखा है, इस प्रकार सहज रूप में सजी वह सुन्दरी इतनी आकर्षक और कान्तिपूर्ण लगती है कि गरजते हुए बादलों से निकलकर कांचनाद्रि पर पड़ी बिजली की चमक भी उसके समक्ष कुछ नहीं। यहाँ बादल सुन्दरी के केशों से, उनका गर्जन उसके गान से, कांचनाद्रि उसकी कान्तिमय काया से तथा विद्युत् रेखा केसर के तिलक से तुलित की गई है।

निष्कर्ष—

सौन्दर्य अपने विकास के लिए कृत्रिम प्रसाधनों की अपेक्षा नहीं रखता।

[७५]

यूरोपयोषिदुषितं विकलं विलासं,
दृष्ट्वापि नेह पतति प्रमदा प्रमादे।
उन्मूल्य कूलमटितां तटिनीमवन्या,
ज्ञात्वापि पर्वत नदी न हणाति तीरम्॥

व्याख्या—

पहाड़ी नदी अपने तट की सीमा में बही जा रही है। मैदान में बहने वाली नदी अपने किनारों का उन्मूलन कर सीमा को लांघ जाती है—यह जानती हुई भी पहाड़ी नदी वैसा नहीं करती। जैसे कुलीन नारी किसी पाश्चात्य महिला के निन्दनीय हास-विलास और आमोद-प्रमोद को देख कर भी उसमें नहीं पड़ती।

निष्कर्ष—

सन्मार्गगामी कुमार्गगामियों को देख स्वयं कुमार्ग में नहीं पड़ते।

[७६]

चेत् कामिनीनयनयोः कमनीयकान्ते—
राधो निरञ्जन! निरञ्जनकुञ्चिमाऽयम्।
व्यर्थं चकर्थ कथमञ्जनमद्रिमेतं,
नावैपि नाम निजनामनिरञ्जनार्थम्॥

सन्दर्भ—

हिमालय पर अञ्जनाद्रि नामक पर्वत है, जो काला है। उसके पाषाणों से आँखों में आजने का अंजन बनता है।

व्याख्या—

निरंजन विधाता! यदि किसी एक सुन्दरी के नेत्रों का कान्तिपूर्ण कालापन अंजन आजने की अपेक्षा नहीं रखता तो यह सहज सिद्ध है कि आपने जो अञ्जनाद्रि की सृष्टि की, वह वृथा है। क्योंकि अञ्जनाद्रि का उपयोग तो सुन्दरियों के नेत्र आजने के लिए है। यदि उनके नेत्रों में स्वाभाविक कालापन है तो फिर अंजनाद्रि की क्या उपयोगिता? आपका नाम भी तो निरंजन अर्थात् अञ्जन की सृष्टि नहीं करने वाला है। मालूम होता है—आप अपने नाम का अर्थ ठीक-ठीक नहीं जानते अन्यथा अञ्जनाद्रि की सृष्टि तो आपके नाम से ही अकरणीय और वृथा सिद्ध होती है। उसे आप क्यों करते?

[७७]

लताकुञ्जे गुञ्जेद्विपि कुसुमपुञ्जे प्रमधुपो,
मृगाक्षीणां लौल्यात् करकमलमाजिघ्रति कथम्।
जडास्ताः पद्मिन्यो व्यभिचरति या दुर्मतिरय-
मिमाः पातिव्रत्यप्रथितयशसा निर्मलतमाः॥

सन्दर्भ—

वात्स्यायन ने स्त्रियों के कई भेद किये हैं, जिनमें एक पद्मिनी नामक भेद है। पद्मिनी जाति की स्त्रियों के सम्बन्ध में लिखा है कि उनके शरीर से कमल की-सी गन्ध आती रहती है। इसलिए भौंरे उनको छूने का उपक्रम करते रहते हैं। काश्मीर में भी ऐसी नारियाँ हैं—प्रस्तुत पद्य में कवि का यह आशय है।

व्याख्या—

फूलों के रस को चाहने वाला भौंरा लता-कुंज में गुनगुनाये—यह उचित है। वह लोलुप बन मृग के समान नयनों वाली सुन्दरियों के कमल से हाथों को क्यों सूंघता है? जिन पद्मिनियों (कमलिनियों) के साथ वह इस तरह का विलासितापूर्ण बर्ताव करता रहता है, वे तो जड़ हैं। ये पद्मिनी नारियाँ पतिव्रताएँ हैं। इनके पातिव्रत्य का धवल यश सर्वत्र विश्रुत है। ये भला ऐसा निन्द्य व्यवहार क्यों सहन करेंगी?

निष्कर्ष—

चरित्र भ्रष्ट व्यक्ति सदाचारियों पर भी अपनी कुचेष्टा का असफल प्रयोग करते नहीं सकुचाता।

[७८]

प्रक्षिप्य पञ्जरपुटे परदारजारं,
द्राक्षांशुकं वनशुकं हठतः स्पृशन्तम्।
संज्ञापयत्यघहरं प्रभुरामनाम,
तत्पक्षिपाठनमिषेण मनोरमैका॥

सन्दर्भ—

तोता अंगूर की बेल के पत्ते को खींच-रहा था। एक महिला ने उसे पकड़ कर पिंजरे में बंद कर दिया और अब उसे राम-नाम रटा रही है।

व्याख्या—

वन का एक तोता द्राक्षा—लतारूपी नारी के वस्त्र को बलपूर्वक खींच रहा था। एक महिला ने जब उसे इस तरह पर-स्त्री के साथ छेड़-छाड़ करते देखा तो पकड़ लिया और पिंजरे में डाल बन्दी बना दिया। उसके इस पाप का प्रायश्चित्त कराने के लिए पढ़ाने के मिष अब वह महिला उसे राम-नाम जपा रही है।

निष्कर्ष—

अनुचित कार्य का प्रतिफल दण्ड और प्रताड़ना है। पर स्थायी सुधार के लिए हृदय-परिवर्तन की अपेक्षा है।

[७९]

यत्पत्रिणाममृततुल्यफलानि भुङ्क्ते,
छित्त्वैव तान् विकटमर्कटपंक्तिरेषा।
सन्देहमाक्षिपति तुल्यकुलोद्भवत्वा-
न्निर्दोषदाशरथिदासकृतज्ञतायाम्॥

सन्दर्भ—

उद्दत बन्दर जिन वृक्षों के अमृत जैसे मीठे फल खा रहे हैं, उन्हीं वृक्षों

को चंचलतावश वे तोड़ते जा रहे हैं। एक ओर तो ये कृतघ्न बन्दर और दूसरी ओर इसी बन्दर-जाति में पैदा हुए हनुमान् जैसे महान् व्यक्ति, जिनकी कृतज्ञता की सब प्रशंसा करते हैं। पर इन सजातीय बंदरों का उक्त बर्ताव हनुमान की कृतज्ञता में भी संदेह पैदा करता है। क्योंकि लोग सोचेंगे कि यह सारी की सारी बंदर जाति ही कृतघ्न है, इसमें कृतज्ञता कहाँ!

निष्कर्ष—

बुरी सन्तानें स्वयं तो बदनाम होती ही हैं, अपने पूर्वजों के गौरव पर भी कालिख पोतती हैं।

[८०]

गर्जाभियैव हरिणीं हरिरुत्प्लवन्तीं,
त्यक्तस्तनाश्रितशिशुं निपतत्पयस्काम्।
मा हन्तुमेतु लभतां स महायशांसि,
नृत्यद्-नदद्-द्विरदमंक्षदमर्दनेन ॥

व्याख्या—

अपने बच्चे को दूध पिलाती हरिणी सिंह का गर्जन सुनकर भयग्रस्त है। अपनी जान बचाने के लिए दूध पीते बच्चे को छोड़ वह तेजी से दौड़ रही है। उसके स्तनों से दूध टपक रहा है। सिंह उसका पीछा कर रहा है। कवि सिंह को लक्षित कर कहता है कि वह सद्यः प्रसूता दीन हरिणी को मारने के लिए न दौड़े। उसे तो मस्ती से नाचते हुए और गरजते हुए हाथियों का मद दलने से ही यश मिलेगा।

निष्कर्ष—

दुर्बल को पीड़ा देने में बल की परख नहीं है, वह तो कमजोरी है।

[८१]

राज्ञां स्तवेषु कवयः स्ववयः प्रकृष्टं,
येऽतिक्षपय्य न निराकृषत स्वतृष्णाम्।
ते तां तु योगहिमवद्भवभक्तिनद्या,
ज्ञानाम्बुना बहुविनाशकरीं हरन्तु ॥

व्याख्या—

जिन कवियों ने राजाओं की स्तवना में अपनी उत्कृष्ट आयु बिताई, फिर भी जिनकी तृष्णा—पिपासा—लिप्सा शान्त नहीं हो सकी, वे योगरूपी हिमालय से निकली भक्तिरूपी नदी के ज्ञानरूपी जल से उसे शान्त करें। वे योग, भक्ति और ज्ञान-मार्ग का अवलम्बन करें, जिसके लिए हिमालय और उसकी स्वच्छ सलिला नदियों के तट बहुत उपयुक्त स्थान हैं।

निष्कर्ष—

तृष्णा का कभी अन्त नहीं आता। वह योग, भक्ति और ज्ञान का अवलम्बन करने से ही शान्त हो सकती है।

[८२]

नायं क्षमाभृदुपतापमुपैति किञ्चि—
त्तप्तोऽपि तीव्रतरणेः किरणैरगण्यैः।
क्षोभं क्षमां दधदिव व्यथितोऽपि गान्धिः,
कारागृहैः कुपितगौरनृपप्रयुक्तैः॥

सन्दर्भ—

सूर्य अपनी तेज किरणों से तप रहा है पर बर्फ से अत्यन्त शीतल बना पर्वत उससे गर्म नहीं होता।

व्याख्या—

ब्रिटिश शासकों ने कुपित होकर महात्मा गाँधी को कारावास के अनेकानेक कष्ट दिये पर गाँधीजी क्षोभ को क्षमा के रूप में बदलते हुए इससे कभी भी अधीर नहीं बने, क्षुब्ध नहीं हुए। वैसे ही यह क्षमाभृत,[1] क्षमाशील—पर्वत सूर्य की असंख्य किरणों से तपाये जाने पर भी उपताप नहीं पाता—गर्म—क्षुब्ध नहीं होता। महात्मा गाँधी की तरह यह भी क्षमाशील है।

निष्कर्ष—

महान् व्यक्ति संकट में भी क्षमा और धैर्य नहीं छोड़ते।

१—क्षमाभृत् शब्द के दो अर्थ हैं—क्षमाशील और पर्वत।

[८३]

काश्मीरे का समीरे विलसति सबला सा कला यौष्णरश्मिं,
ग्रीष्मेऽपि क्रूरकुप्यत्किरणमकरुणं मन्दसत्त्वं करोति।
यस्मात् क्रुद्धः स भास्वान् मरुलघुमस्तं पीडयत्युग्रभाभिः,
संसृष्टं पांसुराशौ जलफलविकलं मित्रपत्रिष्वसक्तम्॥

सन्दर्भ—

काश्मीर में बड़ी शीतल वायु चलती है। इससे ग्रीष्म ऋतु में भी यहाँ गर्मी नहीं पड़ती। सूरज की प्रचण्ड किरणें उस शीतल वायु पर अपना असर नहीं कर सकती।

व्याख्या—

काश्मीर की हवा में न जाने वह क्या कला—शक्ति है कि वह ग्रीष्म ऋतु के सूर्य को भी, जिसकी किरणें कोप एवं क्रूरता से प्रचण्ड हैं, प्रभाव शून्य बना देती है। इस पराभव से क्रुद्ध हुआ सूर्य मरुस्थल में आता है। वहाँ वायु क्षीणकाय है। धूल से भरी है दीन-हीन है। न उसके पास जल का बल सेना-शक्ति है और न वृक्षरूपी मित्र ही। सूर्य इस दयनीय वायु को अपनी उग्र किरणों से जलाता है, पीड़ा देता है। मरु भूमि का यह सहज रूप है—यह बालू से भरी रहती है। बालू सूर्य की किरणों से शीघ्र ही गर्म हो जाती है, उसकी उष्णता, वायु मंडल में फैल जाती है। इसके अतिरिक्त मरु भूमि में न नदियाँ होती हैं और न सघन वृक्ष ही।

निष्कर्ष—

आततायियों का जब बलवानों पर ज़ोर नहीं चलता तब वे दुर्बलों को सताते हैं।

[८४]

मार्तण्डकुण्डगहनाम्बुगतापि सूची,
लोलोक्यते तटजनैर्जलनिर्मलत्वात्।
दृश्येत तेन न किमात्मविशुद्धरूपात्,
स्वस्थात्मनि प्रणिहिता परमात्मशक्तिः॥

सन्दर्भ—

श्रीनगर और पहलगाँव के बीच मार्तण्ड-कुण्ड नामक एक जल का कुण्ड है। उसमें पानी बहुत गहरा और अत्यन्त साफ है।

व्याख्या—

मार्तण्ड-कुण्ड का पानी इतना निर्मल है कि किनारे पर खड़े लोग इसके अन्दर पड़ी हुई सुई को भी देख सकते हैं। पदार्थ के निर्मल होने से उसमें पड़ी हुई जैसी सूक्ष्म वस्तु भी देखी जा सकती है तो जिसने अपनी आत्मा के मल को मिटा उसे विशुद्ध बना लिया, वह अपने भीतर स्थित परमात्म-शक्ति को क्यों नहीं देख सकता ?

निष्कर्ष—

परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति के लिए आत्मा का निर्मल होना—कर्म-मल से विरहित हो विशुद्ध बनना अपेक्षित है।

[८५]

यादृग् वनं विकसितं प्रकृतेः स्वभावा-
त्तादृङ् न भात्युपवनं पयसाऽपि सिक्तम्।
आचक्षतेऽपि कपिलाः प्रकृतिं प्रधानं,
मूलं समस्तजगदेकमहीरुहस्य ॥

सन्दर्भ—

काश्मीर में पेड़-पौधों और फल-फूलों से भरे पूरे वन भी हैं और सुन्दर-सुन्दर उपवन-बगीचे भी।

व्याख्या—

प्रकृति के हाथों पला-पुसा विकसित वन जैसा अच्छा दीखता है, जल से सिञ्चित उपवन वैसा सुन्दर नहीं लगता। यह तो हुई सांसारिक व्यवहार की बात, दर्शन के क्षेत्र में भी सांख्य-दर्शन के विद्वान् प्रकृति को प्रधान कहते हैं, और उसे संसाररूपी वृक्ष का मूल मानते हैं अर्थात् सांख्य-दर्शन के अनुसार सृष्टि-रचना में प्रकृति का मुख्य हाथ है।

निष्कर्ष—

प्राकृतिक सुन्दरता की कृत्रिम सजावट बराबरी नहीं कर सकती।

---

१ सांख्य-दर्शन में प्रकृति की संज्ञा प्रधान है।

[८६]

स्वीयं दयारसमयं समयं धरित्र्यां,
सम्यक् प्रचर्य सुगतः सुगतः स्वरेव।
साक्षान्निदर्शयति तन्मतशून्यवादं
शून्यं विधाय नरपाणिमियं हिमानी ॥

सन्दर्भ—

काश्मीर का बहुत सा प्रदेश बर्फ-समूह से भरा है। बर्फ इतनी ठंढी है कि छूने मात्र से हाथ को सूना कर डालती है।

व्याख्या—

महात्मा बुद्ध अपने दयामूलक सिद्धान्तों का भूमण्डल में प्रचार कर स्वर्ग को चले गये। उनके सिद्धान्त आज भी चल रहे हैं। बर्फ अपने को छूनेवाले व्यक्ति के हाथ को शून्य—सूना बना बुद्ध के शून्यवाद को आज भी व्यक्त कर रही है। इस प्रकार प्रकृति-जगत् की ओर से भी उनके सिद्धान्तों को पोषण मिल रहा है।

निष्कर्ष—

व्यक्ति मिट जाता है, उसके मौलिक विचार नहीं मिटते।

[८७]

ध्वस्ते तृणेऽपि तुहिनेन मही हिमाद्रे—
स्तद्बीजमाप्य कुरुते नवशष्पसृष्टिम्।
मार्क्सस्य कीदृगिति भौतिकभूर्जगत्या,
नाशे पुनः सृजति तां विभुना विनैव ॥

सन्दर्भ—

मार्क्सिज्म के भौतिकवाद के अनुसार पंच महाभूत ही मूल तत्त्व है। आत्मा का व्यापक अस्तित्व वहाँ नहीं माना है। आत्मरूप बीज के अभाव में जगत् की पुनर् सृष्टि सम्भव कैसे हो सकती है? जैसे घास के साथ-साथ यदि बीज भी नष्ट हो जाता तो नया घास कैसे उगता?

व्याख्या—

तुषार पात ने घास को ध्वस्त कर डाला। घास के बीज भूमि पर बिखर गये।

उनको लेकर भूमि नया घास उत्पन्न कर रही है। पर मार्क्सिज्म के भौतिकवाद की भूमि कैसी है, जो संसार के नष्ट होने के बाद आत्मा के बिना ही उसकी पुनर् सृष्टि की कल्पना करती है।

निष्कर्ष—

आत्मा एक शाश्वत एवं स्वतन्त्र तत्त्व है। उसे न मानने से लोक-व्यवस्था में भी अड़चन आ जाती है।

[८८]

नद्या जलं मधुरमप्युदधिस्थितं स्यात्,
क्षारं पुनर्जलदयोगमुपेत्य मिष्टम्।
आत्माऽपि निर्मलतमो मलिनो भवार्त्या,
वैमल्यमेति गुरुसंगतसंगमेन ॥

व्याख्या—

नदी का जल मीठा है। समुद्र में जाकर वह खारा हो जाता है। वही बादलों का योग पाकर पुनः मीठा हो जाता है। उसी तरह अति विशुद्ध आत्मा भी सांसारिक क्लेश- परंपरा से मलिन हो जाती है। सद्गुरु का संसर्ग पाकर वही मैली आत्मा निर्मल बन जाती है।

निष्कर्ष—

संगति का बड़ा प्रभाव होता है। व्यक्ति जैसों की संगति करता है, उसमें भी उन जैसे गुण आ जाते हैं।

[८९]

अम्लोऽपि संस्कृतिवशान्मधुरत्वमेति,
सेवः परन्तु स कदापि न दाडिमः स्यात्।
का डाविनस्य निहिताऽथ सुधा सुधारे,
यां द्राङ् निपीय कपयोऽपि नराभवन्ति ॥

सन्दर्भ—

काश्मीर में सेव बहुतायत से होती है। पेड़ों से कलमें काटकर लगाने

की प्रणाली भी वहाँ बहुत प्रचलित है। इस प्रणाली से खट्टे सेव के वृक्षों से मीठी सेवें भी पैदा की जाती हैं।

व्याख्या—

संस्कारवश खट्टी सेव मीठी बन जाती है। पर वह अनार कभी नहीं बन सकती। जब वनस्पति-जगत् में एक फल का भिन्न जातीय फल के रूप में परिवर्तन या विकास नहीं हो सकता तो डार्विन के विकासवाद में वह कौन-सा अमृत भरा है, जिसे पीकर बन्दर भी मनुष्य बन जाते हैं।

डार्विन के विकासवाद के अनुसार मानव का आदि पुरुष बन्दर है। उससे विकसित होते-होते मानव अपने वर्तमान रूप तक पहुँचा है। पर इसमें सोचने की बात यह है कि जब सेव भी अनार के रूप में नहीं बदल सकती तो बन्दर जो मानव से बिल्कुल भिन्न जाति का प्राणी है, मानव के रूप में कैसे विकास पा सकता है?

[१०]

नद्यो मिथः पृथगपि स्वरसाकृतिभ्यः,
प्रेम्णा मिलन्ति हिमशैलसमोद्गमत्वात्।
आर्यैकदेशतनया विनयान्विताः किं,
नैकत्वमाददतु वैदिकजैनबौद्धाः॥

सन्दर्भ—

हिमालय से बहुत-सी नदियाँ निकलती हैं। उनका आकार भिन्न-भिन्न तरह का है। पानी का स्वाद व रंग भी अलग-अलग है। बहती-बहती वे सब आपस में मिल जाती हैं।

व्याख्या—

हिमालय से निकलने वाली नदियाँ आकार, जल आदि में एक दूसरे से पृथक् हैं पर उनका उद्गम-स्थान एक है। इसलिए वे सब आपस में प्रेम से मिल जाती हैं। एक उद्गम से निकलने वाली नदियों में जब इतना समन्वय है तो भारतमाता के पुत्र विनयशील वैदिक, जैन और बौद्ध आपस में एकता और समन्वय से क्यों न रहें?

निष्कर्ष—

भारत की विविध सांस्कृतिक धाराओं का उद्गम एक है। सब को एकता और मेल से रहना चाहिए।

[९१]

हससि तुहिनवांस्त्वं निर्झरी रोदिषीव,
कथय कथमयं स्या-देककाले विरोधः।
इति रुतसरिदुक्तः पर्वतः पक्षिशब्दै—
र्वदति पठत जैनं भोऽनेकान्तवादम् ॥

सन्दर्भ—

हिमालय का एक मुखरित और सुषमित दृश्य। किन्हीं चोटियों पर बर्फ जमी है, किन्हीं से कल-कल करते झरने बह रहे हैं। कहीं नदियाँ अपनी मदमाती ध्वनि के साथ आगे बढ़ रही हैं। पक्षियों का कल कूजन एक मधुर समां बाँध रहा है।

व्याख्या—

नदी ने अपनी मदमाती ध्वनि के बहाने पर्वत से पूछा—बर्फ के मिष तुम हँस रहे हो और झरने के रूप में रो रहे हो, कहो तो सही—एक ही काल में हँसना और रोना, ऐसा विरोध क्यों? पर्वत ने पक्षियों के कल कूजन के मिष उत्तर दिया—जरा जैन-दर्शन के अनेकान्तवाद को तो पढ़ लो।

निष्कर्ष—

अपेक्षा-भेद से एक ही काल में एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध दीखने वाले धर्म भी टिक सकते हैं।

[९२]

ध्वान्तं स्वशैत्यपरितर्पितपत्रिपुञ्जे,
प्राप्याश्रयं दिनपतेरपि कम्पते न।
कारागृहादपि धनार्चितराजपुंसां,
रक्षास्थितो वणिगिव व्यवसायचोरः ॥

सन्दर्भ—

वृक्षों का एक सघन झुरमुट लहलहा रहा है। दिन का समय है। सुरज की किरणों से सर्वत्र आलोक फैला है। पर झुरमुट इतना गहरा है कि वहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँच पातीं। वहाँ अन्धेरा है।

व्याख्या—

सूरज उगा। प्रकाश फैलने लगा। अन्धेरा घबराया—कहाँ जाऊँ? झट दौड़कर वृक्षों के गहरे झुरमुट के पास गया। उसे अपनी शीतलता[1] दे दी, शरण पाली। अब वह खुशी से वहाँ बैठा है, सूरज से उसे कोई भय नहीं, घबराहट नहीं। जैसे—काला बाजार करने वाला व्यापारी अधिकारियों को रिश्वत देकर उनकी सुरक्षा में बैठा कारावास से नहीं डरता—उसी तरह अन्धेरा निर्भय है।

निष्कर्ष—

स्वार्थ के वश लोग दुर्जन और अनाचारी व्यक्तियों को भी आश्रय दे देते हैं।

[९३]

पश्यामि साम्प्रतमहं तमहंकृतं न,
योऽपां पतिः कमलयाऽमलयाऽपि पूर्णः।
तस्यैव वारि मितमात्रमयं गृहीत्वा,
मेघोऽस्ति गर्जति कथं मलिनान्तरात्मा॥

सन्दर्भ—

आकाश में बादल गरज रहे है।

व्याख्या—

समुद्र अमल लक्ष्मी से परिपूर्ण है, महान् है। पर उसे अपने वैभव का जरा भी अभिमान नहीं। उसी का थोड़ा-सा पानी लेकर यह बादल गरज रहा है—अभिमान कर रहा है। इसके अन्तरतम में विवेक नहीं है, अन्धेरा है। तभी तो यह थोड़ी-सी चीज पाकर इतना गर्व करने लगा।

निष्कर्ष—

अभिमान अविवेक का परिणाम है। महान् और विवेक-शील व्यक्ति गर्व नहीं करते। ओछे और अविवेकी ही गर्व करते हैं।

---

१ अन्धकार की प्रकृति शीतल मानी गई है।

[९४]

इदानीं दानीन्द्रो भवति जलदो वर्षनुदितो,
न भीष्मे ग्रीष्मेऽपां पृषदपि ददे शुष्ककृषये ।
धनी धर्मच्छद्मा वितरति धनं साम्यमयतो,
न पप्रच्छ क्षेमं क्षुधिततृषितान् कश्चन पुरा ॥

सन्दर्भ—

वर्षा की ऋतु है। मेघ प्रचुर जल बरसा रहा है।

व्याख्या—

ग्रीष्म-ऋतु का समय था। भीषण गर्मी से खेती सूखी जा रही थी। बादल ने उसे एक बून्द भी पानी नहीं दिया और आज वही कृपण बादल वर्षा ऋतु से प्रेरित हो दानियों का सम्राट् बन रहा है। यह धर्म का आडम्बर करने वाले उस धनी जैसा है, जो पहले भूख और प्यास से बेचैन लोगों से कुशल-क्षेम तक नहीं पूछता था, अब साम्यवाद के भय से धन बाँट रहा है।

निष्कर्ष—

सहयोग वही है, जो आत्मीय भावना से दिया जाय। बाध्यतावश सहयोग करना उस भावना का द्योतक नहीं।

[९५]

मृगो मृग्याः सङ्गं परिहरति नाहो क्षणमपि,
किरातन्यस्तो न प्रविशति शरो यावदुपरे ।
जगज्जीवो मायामिति भुवि तथा मोक्तुमवशो,
यमो यावन्नायान् कवलयितुमास्यं विकुरुते ॥

सन्दर्भ—

हिरन हिरनी को साथ लिये खुशी-खुशी जा रहा है। बहेलिया बाण छोड़ने को उद्यत है।

व्याख्या—

व्याध द्वारा छोड़ा हुआ बाण जब तक हिरन के पेट में नहीं धँस जाता, वह क्षण भर

के लिए भी हिरनी का साथ नहीं छोड़ता। इसी तरह जीव संसार के माया-मोह में इतना फँसा है कि जब तक मौत उसे खाने के लिए अपना मुँह फाड़े नहीं आती, वह उसे छोड़ नहीं सकता।

निष्कर्ष—

विनाश से पहले सावधान होना हितकर है।

[१६]

उपेक्षामाधत्ते शिरसि पततोऽयं पशुपतेः,
सहर्षं शष्पाणां कवलमुपचर्वन् वनमृगः।
अप्रत् लिप्सोर्मृत्योर्निकटमभिपृष्ठं स्थितवतो,
निमग्नः प्रामाद्ये विषयमभिभुञ्जन् जन इव॥

व्याख्या—

हिरन वन में आनन्द-विभोर हो हरी-हरी घास चर रहा है। शेर उसके शिर पर झपटने वाला है। हिरन घास चरने के हर्ष में इतना निमग्न है कि उसे इसका भान तक नहीं। जैसे विषय-वासना में अन्धा बना व्यक्ति प्राण हरने को पीठ पीछे पास ही खड़ी मौत की उपेक्षा करता है, प्रमाद में डूबा रहता है, उसी तरह यह हिरन सिंह की उपेक्षा कर रहा है।

निष्कर्ष—

प्रमाद ह्रास और विनाश का साधन है।

[१७]

कान्तारे कातराणां गणयतु समजं को जनो जम्बुकानां,
शार्दूलः कश्चिदेको द्विपदलदलनं यस्य जातिस्वभावः।
गेहे शूरा असंख्या महिमनु मनुजा बिभ्यतो भेकतोऽपि,
क्रूराणां राजपुंसां पदमदविभिदां नेहरूणां न सेना॥

सन्दर्भ—

वन में गीदड़ इतने है कि वे गिने भी नहीं जा सकते पर शेर कहीं इक्के-दुक्के ही पाये जाते है।

व्याख्या—

वन में कायर गीदड़ों की टोली को कौन गिन सकता है; वे असंख्य हैं। पर शेर जो स्वभावतः हाथियों के समूह का दलन करता है, कहीं एक ही पाया जाता है। वे असंख्य नहीं मिलते। पृथ्वी में ऐसे तो अनेकों व्यक्ति हैं, जो बाहर मेंढकों से भी डरते हैं और घर में शूरवीरता बिखेरते रहते हैं। पर अन्यायी शासकों के गर्व को दलने वाले नेहरू जैसे व्यक्तियों की फौज नहीं होती, वैसे वीर तो एक-आध ही होते हैं।

[९८]

कालीदासः कवीशः सुरपतिविहितातिथ्यमङ्गीकरोति,
सोमाद्यान् जीवनीयानथ कवयतु को देवपेयान् पदार्थान् ।
काश्मीरे कः शमो रे मरुतरुरुदितो वायसैः सेवनीयो,
गातुं कीर्तिं यदीयां प्रभवतु सफलो मादृशःकोऽपि गोपः ॥

सन्दर्भ—

काश्मीर में सोम भी हैं।

व्याख्या—

महाकवि कालीदास स्वर्ग के राजा इन्द्र का आतिथ्य स्वीकार कर रहा है। वह अब पृथ्वी पर नहीं रहा। तब काश्मीर में पैदा होने वाले सोम जैसे जीवन-प्रद एवं देवोपभोग्य पदार्थों पर कविता कौन करे? मरुभूमि में पैदा होने वाला और कांकों द्वारा सेवनीय खेजड़े (शमी) का वृक्ष तो काश्मीर में है नहीं, जो मेरे जैसा गोप उस पर काव्य करने में सफल हो सके।

काश्मीर में वे उत्तमोत्तम पदार्थ हैं। जिनका वर्णन करने के लिए कालीदास के जैसी प्रतिभा की अपेक्षा है। मेरे जैसा साधारण कलाकार उनका क्या वर्णन कर सकता है।

कवि ने जैसे काव्य के प्रारम्भ में अपनी नम्र-भावना का परिचय दिया है, उसी को यहाँ दूसरे ढंग से कथन किया है।

[९९]

सोमं सोमोपमानं हिमगिरिविषयं सुश्रुते सुश्रुताङ्क—
मायुर्वेदज्ञविज्ञा जगदुपकृतये यत्नतोऽन्वेषयन्तु ।

यस्याऽमोघप्रभावात् पुनरपि बहवो रामकृष्णा वितृष्णा,
अर्हद्बुद्धाः प्रबुद्धाः क्षितितलतिलका भारतीया भवेयुः ॥

व्याख्या—

काश्मीर में सोमरस भी पैदा होता है। चन्द्रमा की घटती-बढ़ती कला के अनुसार सोमरस के पौधे के पत्ते घटते-बढ़ते रहते हैं। सुश्रुत में उसकी पहचान बताई गई है। आयुर्वेद के विद्वान् यत्न के साथ उसकी खोज करें। इससे संसार का भला होगा। इसके प्रभाव से हमारे देश में फिर राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध जैसे योगी, ज्ञानी और आत्मतुष्ट महापुरुष पैदा हों और भूमण्डल में वे सम्मान पायें।

[१००]

साहित्ये संस्कृतस्य स्फुरतु सरसता कालिदासोक्तितुल्या,
शब्दानां सूत्रसिद्धौ विलसतु नियमः पाणिनीयप्रमाणः।
वैद्या धन्वन्तरीणां दधतु सदृशतां पाणिपीयूषतायां,
गेहे गेहे गृहिण्यो गणितपरिणतौ यान्तु लीलावतीत्वम् ॥

सन्दर्भ—

यह मंगलात्मक पद्य है। कवि ने राष्ट्र की जनता के प्रति मंगल-कामना की है।

व्याख्या—

हमारे राष्ट्र में संस्कृत-साहित्य फले-फूले। इसमें कालीदास की वाणी जैसी सरसता स्फुरित हो—कालीदास जैसे कलाकार पैदा हों। शब्द-सिद्धि के लिए पाणिनीय नियम विलसित हों—व्याकरण से परिमार्जित शब्द लोग बोलें। यहाँ धन्वन्तरि जैसे पीयूष-पाणि वैद्य पैदा हों। घर-घर में गृह-देवियाँ लीलावती जैसी गणितज्ञा हों।

[१०१]

जम्बूद्वीपे भारतक्षेत्रमध्ये,
दिल्ली नाम्नी राजधानी प्रसिद्धा।
तस्याः प्राच्यां वर्ततेऽलीगढाह्वं,
विद्वद्वेद्यं सत्तमं पत्तनैकम् ॥

व्याख्या—

जम्बू द्वीप के अन्तर्वर्ती भारतवर्ष में दिल्ली नामक प्रसिद्ध नगर है, जो राष्ट्र की राजधानी है। उससे पूर्व दिशा में अलीगढ़ नामक एक उत्तम शहर है, जिसके बारे में पढ़े-लिखे लोग प्रायः जानते ही हैं।

[१०२]

तस्योदीच्यां भूपितो भूमिदेवै-—
रेको ग्रामो भाति सोनामयीति।
भारद्वाजे तत्र गोत्रे पवित्रे,
विद्वानेकः खुबिरामाभिधोऽभूत् ॥

उससे उत्तर दिशा में ब्राह्मणों से शोभित सोनामयी नामक एक गाँव है। वहाँ उत्तम भारद्वाज-गोत्र में खुबिराम नामक एक विद्वान् हुये।

[१०३]

तस्यात्मजेन रघुनन्दनशर्मनाम्ना,
वैद्येन किञ्चिदुदितं प्रकृतेर्यदाप्तम्।
किं विद्विषां न विदुषामिति नीरसेऽपि,
क्षारेऽम्बुधावपि सुधेव रसस्य लब्धिः ॥

उनके आत्मज वैद्य रघुनन्दन शर्मा ने जो प्रकृति से पाया, उसे शब्दों का रूप दिया जो पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। यद्यपि यह एक नीरस कृति है पर खारे समुद्र में जैसे अमृत मिला, उसी तरह इसमें भी सात्विक भावनाशील विद्वानों को क्या रस नहीं मिलेगा? तात्पर्य यह है कि जो ग्राहक-बुद्धि से इसे पढ़ेंगे, उन्हें अवश्य इसमें रस आयेगा।

